# पहल

## पुस्तिका

## वली दक्खिनी

## 'वो पहला नाख़ुदा हिन्दोस्तानी के सफ़ीने का'



# वो पहला नाख़ुदा हिन्दोस्तानी के सफ़ीने का

## वली दक्खिनी की कविताएं

चयन, लिप्यांतरण और भूमिका
वीरेन्द्र कुमार बरनवाल

पहल
इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत
प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक

# पहल : पुस्तिका

**2003 : नवम्बर**

अव्यवसायिक
अनियतकालीन

| | | |
|---|---|---|
| संपादक | : | ज्ञानरंजन |
| संपादक मंडल | : | जितेन्द्र भाटिया/परितोष चक्रवर्ती<br>विनोद कुमार श्रीवास्तव / विजय कुमार |
| प्रसार, वितरण | : | मनोहर बिल्लौरे |
| बिहार प्रतिनिधि | : | शंकर, जमशेदपुर |
| लखनऊ | : | अखिलेश |
| भोपाल | : | हरि भटनागर |
| इंदौर | : | विश्वनाथ कदम |
| प्रकाशक | : | पहल, जबलपुर |
| संपर्क | : | 101, रामनगर, अधारताल, जबलपुर - 482004 |
| टेलीफोन | : | 2360393 |
| फैक्स | : | 0761-2390143 |
| ई मेल | : | edpahal_jbp@yahoo.com |
| संगणकीय अक्षर रचना | : | महाकोशल ऑफसेट सहकारिता मुद्र. मर्या.,जबलपुर |
| मुख पृष्ठ | : | अतुल पुराणिक |
| मुद्रक | : | महाकोशल ऑफसेट सहकरिता मुद्र. मर्या., जबलपुर |
| पुस्तिका का मूल्य | : | 20.00 रू. |
| पहल का वार्षिक | : | 120.00 रू. (तीन अंकों के लिये) |
| संस्थाओं के लिये | : | 150.00 रू. |
| नमूना प्रति के लिये | : | 30.00 रू. का डाक टिकट भेजें |

# आभार

वली दक्खिनी पर आलेख के साथ उनकी कविताओं के संकलन की यह पुस्तिका ज्ञानरंजन जी के सतत आग्रह का परिणाम है। पुस्तिका में वली पर उर्दू, मराठी और हिन्दी में लिखी गयी क्रमशः मख्दूम मोहिउद्दीन् , चंद्रकांत पाटील, राजेश जोशी और देवी प्रसाद मिश्र की कविताएँ भी दी जा रही हैं। चारों अपनी-अपनी भाषाओं के समर्थ कवि हैं। इससे वली की प्रासंगिकता और भी उभर कर प्रकाश में आती है।

वली की अधिकांश संकलित कविताओं के उर्दू से देवनागरी में लिप्यान्तरण में मुंबई के उर्दू के विद्वान श्री फ़ैयाज़ मोमिन और युवा हिन्दी कवि बोधिसत्व का बहुमूल्य योगदान रहा है। मख्दूम मोहिउद्दीन की नज़्म प्रतिष्ठित उर्दू विद्वान शकील सिद्दकी और हिन्दी कवि उपेन्द्र कुमार जी के सौजन्य से प्राप्त हुई हैं। पुस्तिका को तैयार करने में कहानीकार हरि भटनागर का प्रमुख श्रम रहा है।

इस पुस्तिका को संभव बनाने वाले इन सभी रचनाकार मित्रों को अनेकशः धन्यवाद

**- वीरेन्द्र कुमार बरनवाल**

# पहल सम्मान 2003

कथाकार उदय प्रकाश को

आयोजन

21-22 फरवरी 2004

नागपुर (महाराष्ट्र)

# वली दक्खिनी

## 'वो पहला नाख़ुदा 'हिन्दोस्तानी' के सफ़ीने का'

– वीरेन्द्र कुमार बरनवाल

सन् 2002 में अहमदाबाद में लम्बे चले साम्प्रदायिक दंगों के दौरान उर्दू के आदि कवि वली दक्खिनी का समाधि स्थल मटियामेट कर दिया गया। आज़ादी के मिलते ही और उसके बाद भी अनेक कवि-रचनाकार साम्प्रदायिक और धार्मिक उन्माद के शिकार समय-समय पर इस अभिशप्त भारतीय उप महाद्वीप में होते रहे हैं। लाहौर में लालचन्द 'फलक', लखनऊ में यगाना चंगेज़ी, जबलपुर में ज़हूर बख्श, वाराणसी में 'नजीर' बनारसी और मेरठ में वशीर 'बद्र' को साम्प्रदायिकता की आग में जिस तरह झुलसना पड़ा वह तो पाशविक पागलपन की महज थोड़ी से बानगी है। पर किसी रचनाकार के लगभग ढ़ाई सौ वर्ष पुराने स्मृति चिह्न को मिटा देना एक भीषण हिंसारुग्ण मानसिकता की अपने आप में अकेली भयावह मिसाल है। इस देश की सांस्कृतिक बहुलता जो कि सदियों से विश्व में हमारी विशिष्ट पहचान रही है, के सामने इतना बड़ा और भयंकर प्रश्नचिह्न विभाजन के समय हुये व्यापक साम्प्रदायिक दंगों के बीच भी नहीं खड़ा हुआ था। आज हमारी परम्परा में जो कुछ भी अजस्र प्रवहमान जीवन्त, रचनात्मक और स्पन्दनशील है उस पर संकट के विनाशकारी बादल मंडरा रहे हैं। इसके प्रतिरोध में एक भी सच्चा ईमानदार स्वर और एक भी सशक्त स्वत:स्फूर्त विश्वसनीय हाथ उठता नज़र नहीं आता। जो कुछ भी दिखाई और सुनाई पड़ता है वह क्षुद्र राजनीतिक तात्कालिकता से प्रेरित होने के कारण दयनीय रूप से निस्तेज और बेअसर है। अगर ईंट-पत्थर और चूने-गारे के स्थूल स्मृति-प्रतीक मिटाने से सृजनात्मकता से ऊर्जस्वी नाम और उनके अवदान जातीय स्मृति से मिटाये जा सकते तो निश्चय ही अंधकार की विध्वंसकारी ताक़तें सफल प्रयास सिद्ध हो सकती थीं। पर सौभाग्य से ऐसा नहीं है। यही वजह है कि

आज 'वली' अकादमिक दायरे से निकल कर रचनात्मक हल्कों में गहरी चिन्ता और चर्चा के विषय बन गये हैं।

वर्तमान महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद शहर में सन् 1668 में जन्में और गुजरात के अहमदाबाद शहर में सन् 1744 (?) में दिवंगत उर्दू के पहले युगान्तरकारी कवि वली दक्खिनी को उर्दू शायरी का बाबा आदम या बाबा-ए-रेख्ता कहा जाता है। अक्सर उनकी तुलना अँग्रेजी के आदि कवि चॉसर से की जाती है। वली के नाम, जन्मस्थान और मृत्युकाल के संबंध में मतभेद समय-समय पर उभरते रहे हैं। ऐसा बड़े रचनाकारों के संबंध में अक्सर दिखाई पड़ता है।

यद्यपि 'वली' की कविताओं की प्रामाणिकता असंदिग्ध है किन्तु उनके जीवन के बारे में चले आ रहे विवरण की विश्वसनीयता शंका से परे नहीं है। यहां तक कि उनके असली नाम तक के बारे में एक अर्से तक सहमति नहीं बन पाई थी। अलग-अलग विद्वानों ने उनका नाम वली मुहम्मद, शाह वलीउल्लाह, शम्स वलीउल्लाह और शम्सुद्दीन बताया है। उनके असली नाम के साथ जुड़े भ्रम के पीछे वस्तुत: अहमदाबाद के एक सूफी सन्त शम्स वलीउल्लाह का नाम भी है। कवि 'वली' के नाम के साथ कई विद्वानों ने 'सन्त' वलीउल्लाह का नाम गड्डमगड्ड कर दिया है। इन्डिया आफिस लाइब्रेरी लंदन में वली के दीवान की एक पाण्डुलिपि रखी है जिसे सन् 1743 ई. (1150 हिजरी) में वली के एक विश्वस्त मिम सैय्यद अब्दुल माआली के पुत्र सैय्यद मुहम्मद ने भूल से नक़ता कर तैयार किया था। उसके अन्तिम पृष्ठ पर लिखा है "दकन के बाशिन्दा मियाँ वली मुहम्मद का कलाम।" इस साक्ष्य के आधार पर वली का पूरा नाम वली मुहम्मद ही फिलहाल सही ठहरता है। कुछ विद्वानों ने उनकी जन्म भूमि अहमदाबाद सिद्ध करने की कोशिश की है जो सही नहीं है। 'वली' की निम्न पंक्तियां इसे पूरी तरह निरस्त करने के लिये काफ़ी हैं-

"वली ईरानो तूरान में है मशहूर
अगरचे शायरे मुल्के दकन है।"

पर वली भले ही गुजरात में न जन्मे हों, यह निर्विवाद है कि उनके जीवन का सवार्धिक रचनात्मक काल गुजरात में ही बीता। बीस साल की उम्र में वह अहमदाबाद चले गये थे। वहां शाह वजीहुद्दीन की मज़ार से सम्बद्ध एक मदरसे में उन्होंने तालीम हासिल की। गुजरात जा कर वह वहीं के होकर रह गये। एकाध बार थोड़े समय के लिये ही वह अपने जीवनकाल में औरंगाबाद जा पाये। अहमदाबाद में उनका सामाजिक दायरा काफ़ी विस्तृत था। वहाँ उनके और उनकी कविता के अनेक प्रशंसक और प्रेमी पैदा हो गये थे। पर वली कविता के साथ ही अपना दिल अब्दुल मआली नाम के एक अत्यंत रूपवान तरुण को दे बैठे थे। इस तरुण के प्रति "उनका प्रेम और प्रशंसा भाव असाधारण सीमा तक" पहुँच गया था। इसी तरुण के साथ वली ने सन् 1700 ई. में दिल्ली की

यात्रा की थी। दिल्ली में "उनकी भेंट अनेक साहित्यिक और आध्यात्मिक व्यक्तियों से हुई जिनमें शाह सादुल्लाह गुलशन देहलवी प्रमुख थे। शाह सादुल्लाह देहलवी एक सन्त होने के साथ ही विद्वान और कवि भी थे। इनसे वली बहुत प्रभावित थे। 'वली' की हिन्दी बहुल दक्किनी की कवितायें सुनकर गुलशन देहलवी ने फरमाया 'मज़ामीने फ़ारसी बेकार पड़े हैं। इन्हें तुम अपने रेख़्ते में क्यों नहीं इस्तेमाल करते? तुमसे कौन पूछताछ करेगा?' ज्ञातव्य है वर्तमान उर्दू को पहले हिन्दी फिर रेख़्ता और बाद में उर्दू कहा गया। 'रेख़्ता' का अर्थ है 'गिरापड़ा' या 'गिरी पड़ी' होता है। फारसी एक अर्से से भद्रजन (एलीट क्लास) की भाषा रही। अत: 'रेख़्ता' नाम फारसी के मुकाबले उसकी हेय स्थिति को संकेतित करने के लिये दिया गया था। यह तो अँग्रेजों के प्रभुत्व के बाद जब अँग्रेजी का वर्चस्व बढ़ा तब यह कहावत प्रचलित हुई "पढ़ें फारसी बेचें तेल। यह देखो कुदरत का खेल।" बहरहाल इसमें दो राय नहीं कि उस समय फारसी का दिल्ली के बौद्धिक और रचनात्मक इलाकों में बड़ा सम्मान था। कविता में उसके स्तर को ही मानदंड माना जाता था। जब वली सन् 1707 में दिल्ली पहुँचे तो उस समय उन्होंने पाया कि वहाँ फारसी के रंगों लहजे में शेर कहने का रिवाज ज़ोरों पर था। वली अपने साथ अपना दक्खिनी हिन्दी का दीवान लेकर दिल्ली पहुँचे थे। उसकी ताज़गी, उसके अछूते नयेपन और भावों की सच्चाई ने सुनने वाले पर गहरा असर छोड़ा था। पहली बार लोगों को लगा कि फारसी के अलावा रेख़्ता में भी श्रेष्ठ प्रभावोत्पादक काव्य रचना सम्भव है। हर गली और नुक्कड़ पर कविताप्रेमियों के बीच वली और उनके शेर चर्चा के विषय बन गये थे। उनकी शायरी का जादू हर ख़ासो-आम के सर पर चढ़कर बोल रहा था। दिल्ली का रचना संसार देखते-देखते 'वली मय' हो उठा था। दिल्ली राज सत्ता का केन्द्र थी। अपनी काव्य-प्रतिभा की दिल्ली द्वारा स्वीकृति वली के लिए नितांत मूल्यवान थी। अत: गुलशन देहलवी का परामर्श मानने में उन्हें ज़रा भी देर नहीं लगी। वली जब दिल्ली पहुँचे थे तो उनकी भाषा की बानगी कुछ ऐसी थी-

"तेरे बिन मुझको ऐ साजन, तो घर और बार क्या करना?
अगर तू न इछे मुझ कान तो यह संसार क्या करना?"

***

तेरे आने की बाट ऊपर बिछाये हूँ मैं अखियन की

और दिल्ली से लौटने पर उन्हीं वली की काव्य-भाषा कुछ इस तरह की हो गयी-

"आगोश में आने की कहां ताब है उसको
करती है निगह जिस कदे नाज़ुक पे गिरानी"

***

"ऐ वली रहने को दुनिया में मुकामे आशिकी

कूचये जुल्फ़ है, आग़ोशिये तनहाई है।''

कुछ विद्वानों का मानना है कि सन् 1707 के बाद वली दोबारा सन् 1720 में भी दिल्ली गये थे। इस मत के पीछे मुसहफ़ी के 'तज़्किरा' में आया एक जिक्र है जिसे दरअसल ग़लत ढंग से समझा गया। मुसहफ़ी ने अपने तज़्किरे में दिल्ली के शायर शाह हातिम (1699-1791) हवाले से लिखा था कि शाह आलम के शासन के दूसरे साल वली का दीवान दिल्ली पहुँचा था। इसे कुछ लोगों ने किसी ग़लतफ़हमी के तहत मान लिया कि वली उस साल फिर दिल्ली तशरीफ ले आये थे। कुछ लोग वली के दोबारा दिल्ली आने के मत की पुष्टि (वली के) इस शेर से करते हैं-

'दिल वली का लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ।'

इस शेर के बारे में उर्दू साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकार मौलाना डा. अब्दुल हक़ का कहना है कि वली के जो तेरह दीवान उनके पास थे उनमें किसी में भी यह शेर नहीं मिलता। इसके साथ डा. हक़ ने फरमाया है कि दरअसल 'तज़्किरा-ये-गुलशने गुफ़्तार' और 'चमनिस्ताने शुअरा' में 'मजमूं' उपनामधारी शायर का एक शेर मिलता है-

'इस गरा का दिल लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मोहम्मद शाह सूँ ।'

किसी ने वली के दोबारा दिल्ली आने की बात को पुष्ट करने के लिये इस शेर में थोड़ा सा रद्दोबदल कर 'वली' पर चस्पा कर दिया। वली के देहावसान के साल को भी लेकर मतभेद है। कुछ विद्वान उनकी मृत्यु सन् 1744 में, और कुछ सुधी उर्दू साहित्य के इतिहासज्ञाता उनका देहावसान सन् 1707 में मानते हैं। डा. अब्दुल हक़ इस मत को नहीं मानते कि वली का देहान्त सत्तर पार की परिपक्व आयु सन् 1741 या 1744 में हुआ था। उन्हें अपने शोध के दौरान मुम्बई की जामी मस्जिद के पुस्तकालय में वली के दीवान की एक पाण्डुलिपि मिली थी जिसके अन्त में दर्ज एक क़िते के आधार पर उन्होंने वली का देहान्त सन् 1707 में ठहराया है। डा. अब्दुल हक़ के अनुसार वली का देहावसान लगभग उन्तालिस साल की उम्र में हुआ था।

वली को एक सूफी रहस्यवादी कवि साबित करने की भी कोशिश की गयी है। उसके पीछे दरअसल एक भ्रम काम करता रहा है। एक अर्से तक दक्षिण के एक सूफी सन्त वली वेल्लूरी की सूफी मत पर लिखी पुस्तक 'रौज़त-उश्-शुहदा' को कुछ लोग वली दक्खिनी की कृति मानते रहे ठीक वैसे ही जैसे एक समय 'शृंगार तिलकम्' को कालिदास की कृति मानने की कोशिश की गयी थी। वली को सूफी रहस्यवाद से जोड़ने के प्रयास के पीछे एक और भी कारण प्रतीत होता है। वली एक प्रतिष्ठित सूफी सन्त वलीहुद्दीन के वंशज थे और वह स्वयं को हज़रत शाह नसीरुद्दीन सिद्दीकी सुहरावर्दी का शिष्य मानते थे। पर वली के काव्य में सूफी तत्त्व ढूँढना वास्तव में दूर की कौड़ी लाने

जैसा है। इस पर आगे विस्तृत चर्चा होगी।

आज जिस भाषा को हम उर्दू के नाम से जानते हैं लगभग पाँच शताब्दी पूर्व या यों कहें उससे भी काफी पहले उसे हिन्दी कहा जाता था। उस समय उसमें न तो अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं के शब्दों का इतना प्रवेश हो पाया था और न ही उसमें वह तराश सम्भव हो सकी थी जो एक नागर भाषा के रूप में आगे चल कर उर्दू की ख़ास पहचान बनी। हिन्दी ने दक्खिनी और रेखता के सोपानों से होते हुये उर्दू तक की अपनी लम्बी यात्रा कैसे पूरी की यह एक बड़ी ही दिलचस्प कहानी है। मानकरूप धारण करने के पहले अनगढ़ हिन्दी में अनुवाद और रचना प्रक्रिया आज से लगभग ग्यारह सौ साल पहले शुरू हो चुकी थी। हिन्दी का सम्भवतः पहला उल्लेख एक अरब यात्री और इतिहासकार बुज़ुर्ग बिन शहरयार की पुस्तक 'अजामबुल हिन्द' में मिलता है। इस किताब के पृष्ठ दो और तीन पर बताया गया है कि "अब्दुला एराकी ने हिन्द के (एक) राजा अलूरा के लिये सन् 270 हिजरी (सन् 870 ई. के आसपास) में कुरान शरीफ का तर्जुमा हिन्दी ज़ुबान में किया था।" एक और इतिहास ग्रंथ 'तिवारीख़े फिरिश्ता' के प्रथम खंड के पृष्ठ 31 पर ज़िक्र है कि कलिंजर के राजा नंदा ने सन् 413 (ईस्वी सन् 1013 के लगभग) सुल्तान महमूद की प्रशंसा में उसके पास हिन्दी में एक शेर लिख भेजा था। 'वली' के जन्म स्थान औरंगाबाद के ही एक विद्वान अज़ीज़ुल्लाह हमरंग औरंगाबादी ने कुरान शरीफ़ के अन्तिम अध्याय के ऊपर सन् 1221 हिजरी (ईस्वी सन् 1806) में लिखी अपनी टीका 'तफसीरे चिराग़े आबादी' की भूमिका में लिखा है-

"अगर्चे बआज़ अजीजो ने ज़बान दक्खिनी हिन्दी आगेज़ में तफ़सीर जुज़्वे आखिर की लिखी है लेकिन बसबब अल्फ़ाज दक्खिनी लुत्फ ज़बाने हिन्दी का पूरा नहीं पाया और दिल यारों का वास्ते मुताअला इसके रग़बत कम लाता। इस वास्ते ख़ातिरे क़ासिर में इस फकीर की आया कि तफ्सीर जुज़्वे आखिर की ज़बाने हिन्दी में कि विलफड़ौले औरंगाबाद के लोगों का मुहावरा है लिक्खे।"

(यद्यपि कुछ दोस्तों ने कुरान शरीफ़ के अन्तिम अध्याय पर दक्खिनी हिन्दी भाषा में टीका लिखी है पर उसमें दक्खिनी शब्दों के मिश्रण के कारण हिन्दी का पूरा आस्वाद नहीं आ पाया है। इसलिये पाठक में उसे पढ़ने की पर्याप्त प्रवृत्ति पैदा नहीं हो पाती। अतः मैंने अन्तिम अध्याय पर टीका इस हिन्दी में लिखने का निर्णय किया है जो इस समय औरंगाबाद में बोली जाती है।)

मौलाना अज़ीज़ुल्लाह हमरंग औरंगाबाद के उपर्युक्त कथन पर डा. अब्दुल हक़ की निम्न लिखित टिप्पणी उल्लेखनीय है-

'इस पर ध्यान देना चाहिए कि लेखक (अ.ह.औ.) औरंगाबादी को दक्खिनी से असम्बद्ध एक अलग भाषा मानते हैं। तथ्य ये है कि शाहजहां के शासनकाल और औरंगजेब के सूबेदारी के समय तक औरंगाबादी उत्तर की भाषा के लगातार सम्पर्क

में थी। औरंगाबाद के कवियों और शायरों की भाषा बीज़ापुर, हैदराबाद और मद्रास प्रेसीडेन्सी की भाषा से एकदम अलग थी। औरंगाबाद के कवि और लेखक आमतौर से उत्तरी हिन्दुस्तान की भाषा प्रयोग में लाते थे।''

यही औरंगाबादी हिन्दी वली की मातृभाषा थी।* चौदहवी सदी के पूर्वार्ध में जब मुहम्मद बिन तुग़लक ने दिल्ली से राजधानी दौलताबाद ले जाने का फरमान जारी किया तो न चाहते हुये भी भारी संख्या में दिल्लीवासियों को अपने सामानों-असबाब के साथ वहां के लिये रवाना होना पड़ा। दिल्लीवासी अपने साथ अपनी भाषा, रीति-रिवाज और खान पान भी ले गये। उनके साथ खड़ी बोली हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों दक्षिण पहुँची। हालांकि उनमें से अधिकांश फिर दिल्ली लौट आये, पर वहाँ वह भाषा और संस्कृति के जो बीज छोड़ आये थे आगे चलकर वो औरंगाबादी हिन्दी के रूप में पुष्पित और पल्लवित हुये। खड़ी बोली हिन्दी के आदि कवि अमीर खुसरो (जन्म सन् 1225 ई. देहावसान सन् 1324 ई.) की काव्य भाषा पर ब्रजभाषा का ख़ासा असर था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ''यही ब्रजभाषापन देख उर्दू साहित्य के इतिहास लेखक प्रो. आज़ाद को यह भ्रम हुआ था कि ब्रजभाषा से खड़ी बोली (अर्थात् उसका अरबी-फारसी ग्रस्त रूप उर्दू) निकल पड़ी।'' बहरहाल ब्रजभाषा की चाशनी लिये खुसरो की खड़ीबोली हिन्दी दिल्लीवासियों के साथ दौलताबाद के साथ-साथ बीजापुर, गोलकुंडा और हैदराबाद के इलाके में भी पहुँची जहाँ शिया शासकों ने अपने राज्य स्थापित किये थे। उत्तर के शिया शासकों द्वारा सुदूर दक्षिण में औपनिवेशिक भाषा के रूप में हिन्दी ने जो रूप धारण किया उसे दक्खिनी नाम मिला। मूल हिन्दी प्रदेश से दूरी, दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं के साहचर्य, मुखसौन्दर्य के लिये उच्चारण विषयक स्वच्छन्दता और रचनात्मक बेचैनी के तहत भाषा के स्थूल कलेवर के साथ तोड़फोड़ ने दक्खिनी को एक स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया।

गोलकुंडा के सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुब शाह (1566 ई.-1613 ई) दक्खिनी के पहले समर्थ कवि हैं। वह शिया मत के अनुयायी थे और उन्होंने मुहर्रम के अबसर पर गाये जाने के लिये मर्सियों से अपने काव्य-जीवन की शुरुआत की थी। इस तरह मर्सिये की जो परम्परा आगे चलकर अनीस और दवीर के हृदयबेधी मार्मिक काव्य में विकसित हुई उर्दू में उसके आदि पुरुष मुहम्मद कुली कुतुब शाह ही थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के तीज-त्योहारों पर भी कवितायें लिखी थीं जिसका आगे लोककवि नज़ीर अकबरावादी (1740-1830) की कविताओं में उन्मुक्त विकास हुआ। सन् 1353 के आस-पास दक्षिण में वहमनी साम्राज्य की स्थापना हुई थी। इसके संस्थापक

* *यहाँ औरंगाबादी और दक्खिनी को लेकर भ्रम नहीं होना चाहिए। जैसे भोजपुरी की उपबोलियाँ वज्जिका, मल्लिका और काशिका मानी गयी हैं उसी तरह औरंगाबादी को दक्खिनी की एक उपबोली माना गया है।*

सुल्तान अलाउद्दीन वहमन शाह ने अपने नाम के साथ वहमन शब्द अपने किशोरावस्था के स्वामी गंगू ब्राह्मण के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिये जोड़ा था। सुल्तान अलाउद्दीन का झुकाव फारसी की अपेक्षा स्थानीय बोली दक्खिनी की ओर अधिक था। अत: वहमनी शासकों के शासन काल में और उसके आगे भी चौदहवीं सदी के मध्य से अट्ठारहवीं सदी के प्रारम्भिक दशक तक दक्खिनी का व्यापक प्रसार गोलकुंडा, बीजापुर, हैदराबाद और औरंगाबाद के इलाकों में हुआ। दक्खिनी में जो रचनात्मक सक्रियता कविता के क्षेत्र में मिलती है वह उत्तर की बोलियों में रचित पदों और गीतों से प्रेरित थी। आगे चलकर उर्दू की प्रेमपरक कवितायें जहां किशोर और तरुण (पुरुष) प्रेमपात्रों को सम्बोधित की गयी मिलती हैं वहीं दक्खिनी की प्रेम कवितायें न केवल स्त्री प्रेम पात्रों को सम्बोधित पायी जाती हैं, बल्कि उनमें कई ऐसी भी रचनायें हैं जो प्रेमिकाओं द्वारा अपने प्रेमियों को सम्बोधित हैं। मुहम्मद कुली कुतुब शाह दक्खिनी की इसी रागात्मक गीत परम्परा के प्रथम उल्लेखनीय कवि हैं। उनकी कविता पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं-

पिया बाज प्याला पिया जाये ना।
पिया बाज यक तिल जिया जाये ना।

***

कुफर रीत क्या हौ इस लाग रीत
हर एक रीत में इश्क का राज है।

***

तुम बिन रहा न जावे अन नीर कुछ न भावे
बिरहा किता सतावे मन सेति मन मिला दो।

दक्खिनी की कुछ और बानगी देखें-

"पिया बिन तेरे तईं वैराग भाया है जो होनी है सो हो जावे
भबूत अब जोगियों का अंग लाया है जो होनी हो सो हो जावे।"

-अशरफ़

सब रैन जागे सेज पर तो भी सजन आया नहीं
चुप-चुप के देखी बाट में दरसन को दिखलाया नहीं॥

-खुशनूद

सोलहवीं सदी के ही दक्खिनी के एक और कवि बुरहानुद्दीन 'जानम' की ये पंक्तियाँ भी ग़ौरतलब हैं-

अब छोड़ नयन मत जावे रे
मुझ बिरहा जली को मत तरसावे रे।

***

यूँ तो शाम सलोना तू मेरा रे

न चले तुज पर मंतर-टोना रे।

दक्खिनी की प्रारम्भिक कविता के जो सोलहवीं-सत्ररहवीं सदी में वली के पहले लिखे गये ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें हिन्दुस्तान के उत्तरी भू-भाग की बोलियों विशेषकर मैथिली, खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी और बंगला के रससिद्ध कवियों के गीतों और पदों की पदचाप सुनाई पड़ती है। निश्चय ही विद्यापति, खुसरो, मीरा, कबीर सूर पूर्व ब्रजभाषा कवियों और चंडीदास जैसे रचनाकारों की रचनायें भक्ति आन्दोलन के प्रवाह के साथ किसी न किसी रूप में दक्षिण पहुँची होंगी और उन्होंने उस रचना भूमि को तैयार करने में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी जिससे दक्खिनी में गहन रागात्मकता लिए गीतों के अंकुर फूटे और उसमें दो सदी से भी अधिक कालखण्ड में रचनात्मक सक्रियता बनी रही। इस काल की हिन्दी कविता (जो बाद में रेखता और फ़िर उर्दू के नाम से जानी गयी) में फारसी कविता की प्रतिध्वनि कम मिलती है जिसके निरन्तर बढ़ते प्रभाव और अनुकरण ने आगे चलकर उसकी पूरी पहचान बदल दी और उसका रूप-रंग और आस्वाद सब कुछ फारसी मय हो उठा। यहाँ पाकिस्तान के सुप्रसिद्ध साहित्यशोधी, काव्य-मर्मज्ञ और समीक्षक डा. बजीर आग़ा की उनकी चर्चित समालोचना कृति 'उर्दू शायरी का मिज़ाज' में दी गयी सम्मति महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी-

"इसमें फारसी शायरी की प्रतिध्वनि की जगह हिन्दी भाषा की धीमी लय उभर आयी थी। यह शायरी गीत की इस महत्वपूर्ण शर्त को भी पूरी करती थी कि उसे अपनी धरती और उसकी वस्तुओं और उसके विभिन्न रूपों से अपना संबंध स्थापित करना चाहिए। चुनांचे इस शायरी में फारसी से ग्रहीत रूपक कथाओं और अलंकारों के बावजूद अधिक महत्त्व हिन्दुस्तान की धरती के पदार्थों को ही दिया गया है, नतीज़तन हिन्दुस्तान के पशु, पक्षी, फूल, बादल और वर्षा की छटा उन सब से ऊपर स्वयं हिन्दुस्तान की नारी इन नज्मों में उभर आई है। लेकिन यह नारी हाड़-मांस एक शरीर मात्र नहीं है। और न तो उसकी हैसियत महज़ जंगल में खुद-बखुद उगे पौधे की सी है। यह नारी प्रेम की भावना से सिक्त और विरह की आग में जलती-सुलगती दिखाई देती है।"

वली ने जब अपनी कविता की आंखें खोली थीं तो दक्खिनी हिन्दी काव्य का परिदृश्य गीतात्मक ही था जिसमें फारसी ग़ज़ल की परम्परा घुली-मिली थी। दक्षिण के शिया शासकों की संगीत में गहरी रुचि थी। वहमनी सल्तनत के संस्थापक अलाउद्दीन हसन वहमन नूं शाह स्वयं संगीत की बारीकियों की अच्छी समझ रखते थे। अतः दक्खिनी हिन्दी के गीतों के रचना के पीछे संगीत का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। वली के रचनाकाल तक दक्खिनी में गीतात्मकता बनी रही। प्रेम उसका मुख्य उपजीव्य था। भाषा की सरलता और रागदीप्त गीतात्मकता ने इस काल की कविताओं को जन-जन तक पहुँचाया। फारसी और दक्खिनी हिन्दी के मिलाप से जो एक नई भाषा रूपाकार ग्रहण कर रही थी उसे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में यद्यपि दरबारों में 'रेख्ता' कहा जाने लगा था

पर काफ़ी समय तक इसका प्रयोग सामान्य जनता में मान्य नहीं हो पाया था। हाफ़िज़ मुहम्मद शीरानी नामक एक शोधी विद्वान ने अपनी पुस्तक 'पंजाब में उर्दू' में बताया है कि रेख्ता शब्द का एक और अर्थ गिरे-पड़े और परेशान होने के अलावा चूना-सफेदी का मिश्रण भी है। अत: हिन्दी-फ़ारसी मिश्रित भाषा एक ठोस रचनात्मक माध्यम के रूप में एक प्रतीकात्मक अर्थ भी रखती है। हाफिज़ मुहम्मद शीरानी ने यह भी लिखा कि अकबर के शासन काल में रेख्ता का अर्थ गीत लिया जाता था। संगीत के संरक्षण में चूंकि मुसलमान शासकों और सूफी सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान था इसके फलस्वरूप फारसी हिन्दी मिश्रित 'रेखते' में संगीत रचनाएँ भी हुईं। वली सन् 1700 में जब दिल्ली पहुँचे तो 'रेख्ता' शब्द वहां भली भांति प्रचलित था। उस समय तक हिन्दुस्तान में फारसी की श्रेष्ठ काव्य परम्परा की साँझ हो चुकी थी। 'बेदिल' उर्फ़ी और नासिर अली की रचनात्मकता का दौर समाप्त हो चुका था। उत्तर में फारसी कविता की इसी गोधूलि बेला में वली दक्खिनी कविता की मशाल लिये दिल्ली पहुँचे थे। और इस मशाल की रोशनी से पूरी दिल्ली और उसके आस-पास के रचना-संसार का कोना-कोना जगमगा उठा था। वली दरअसल एक जीवन्त सेतु थे। वह एक ओर गीत और ग़ज़ल को जोड़ने थे दूसरी ओर दक्खिनी और रेखते को। उन्हें जहाँ दक्खिनी का अंतिम समर्थ कवि माना जाता है, वहीं रेखते का। (जो शीघ्र ही उर्दू के नाम से प्रचलित हुई) का प्रथम सर्वमान्य शायर। अनायास ही उन्हें बाबा-ए-रेखता और उर्दू शायरी का बाबा आदम नहीं माना जाता है।

दिल्ली में वली ने शाह सादुल्लाह गुलशन के सुझाव को पूरी संजीदगी से लिया। उन्होंने स्वयं को अपने रचनात्मक अतीत से मुक्त कर लेने की पूरी चेष्टा की जिसमें उन्हें भारी सफलता मिली। उनके पूर्ववर्ती दक्खिनी के कवियों और स्वयं उन्होंने उत्तर की हिन्दी की बोलियों के गीतों के लयात्मक शब्दों, रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं तथा अन्योक्तियों के जो उदारतापूर्वक प्रयोग अपनी गीतात्मक ग़ज़लों में किये थे उनसे स्वतंत्र होने में उन्हें देर नहीं लगी। अपनी कविता से प्रयोग वली अब पीछे छोड़ आये थे-

पिरित की कंठा जिनने ली उसे घर बार करना क्या
हुई जोगन जो कोई पी की उसे संसार करना क्या

***

जो पीवे नीर नैनां का उसे क्या काम पानी सू
जो भोजन दु:ख का करती है उसे आहार करना क्या

***

नई कई धरमधारी जो कहे पीतम सो समझा कर
कि दुखिया कौन बुझो हो तो इत्ता बेजारी करना क्या।

***

कूच-ए-यार सेन कासी है

जोगिया दिल वहां का बासी है।

***

ऐ सनम तुझ जबीं उपर ये ख़ाल
हिंन्दुओ हरिद्वार वासी है।
जुल्फ तेरी है मौज जमुना की
तिल नजक उसके ज्यों सनाती है।

सन् 1700 में वली का दिल्ली आगमन उर्दू शायरी-ख़ास कर ग़ज़ल के लिये एक युगान्तरकारी घटना थी। अभी तक दक्खिनी की ग़ज़ल का कलेवर भले ही फारसी का था किन्तु उसकी प्रकृति गीत की थी। इसमें फारसी और हिन्दुस्तानी परम्परायें काफ़ी घुल-मिल गयी थीं। अत: यह मानना अनुचित नहीं होगा कि उसका रूप ईरानी और अन्तरमन हिन्दुस्तानी था। पर यह निर्विवाद है कि गीत और ग़ज़ल दोनों सर्वथा अलग काव्य विधायें हैं। जहां ग़ज़ल का प्रत्येक शेर स्वतंत्र और अपने आप में पूर्ण होता है, वहीं गीत का एक केन्द्रीय भाव उसके पूरे काव्य-कलेवर में व्याप्त रहता है। उसके उप-भाव केन्द्रीय भाव के साथ एक सृजनात्मक रासायनिक प्रक्रिया के तहत एक-दूसरे में रच-बस जाते हैं। अत: ग़ज़ल और गीत का एक-दूसरे को आत्मसात कर एक नई विधा के रूप में विकसित होना बहुत कठिन था। नतीजतन दक्खिनी के लगभग ढ़ाई सौ साल के इतिहास में श्रेष्ठ रचनात्मकता के उदाहरण वली की कुछ रचनाओं के अलावा बहुत कम मिलते हैं। वली के दिल्ली आगमन के साथ ग़ज़ल गीत के बंधन से मुक्त हो गयी। अरबी में क़सीदे से टूट कर निकली ग़ज़ल ने फारसी में आकर जिस उन्मुक्त भाव से अपने पंख पसारे और कालांतर में उसका जो काव्यशास्त्र विकसित हुआ उसकी बारीकियों से दिल्ली के काव्य-प्रेमी और रचनाकार भलीभांति परिचित थे। पर फारसी रचना परम्परा का अब अवसान हो चला था। वली जब दिल्ली पहुँचे तो उसकी निस्तेज अनुकृति का बोलबाला था। फारसी कविता और काव्यशास्त्र के अरण्य से दिल्लीवालों ने लकड़ियां अच्छी से अच्छी इकट्ठा कर रखी थीं पर उनके पास आग नहीं थी। वली की काव्य प्रतिभा की मशाल का संस्पर्श पाकर उसमें एक अपूर्व आग पैदा हो गयी जिसके प्रकाश और ऊष्मा की हरारत उर्दू की आगे की सदियाँ और पीढ़ियां निरन्तर अनुभव करती रहीं। भक्ति आन्दोलन के संबंध में अक्सर कहा जाता है कि "भक्ति द्राविडी ऊपजी लाये रामानंद।" भक्ति का उद्गम दक्षिण में हुआ और उत्तर में उसे स्वामी रामानंद ले आये। वली दक्खिनी उर्दू ग़ज़ल के स्वामी रामानन्द थे। दक्खिनी की कोख से उपजी हिन्दी ग़ज़ल की धारा वह उत्तर में ले आये जहां उसे एक सर्वथा नया और अनूठा रूप-रंग और आस्वाद प्राप्त हुआ। वली ने दिल्ली के काव्य-जगत में एक अभूतपूर्व उत्तेजना पैदा कर दी थी। दिल्ली के भद्रलोकीय समाज में व्याप्त यह भ्रम कि श्रेष्ठ रचनात्मकता केवल परम्परा-समृद्ध फारसी में ही सम्भव है, वली ने एक ही झटके में तोड़ दिया। उनकी दक्खिनी की ग़ज़लें गली कूचों

से लेकर संगीत सभाओं, मुजरों और शालीन भद्रजनों की महफिलों में गूँजने लगीं। यहाँ वली तुलसीदास की याद दिलाते हैं जिन्होंने संस्कृत में रचना-सामर्थ्य के बावजूद अवधी को अपनी अभिव्यंजना के लिये घोर विरोध के बावजूद चुना। जिसका परिणाम युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। उनकी रचनायें अनपढ़ और विद्वान, शहर और गांव, महल और झोपड़ी सभी जगह न केवल स्वीकृत हुई बल्कि सभी का कंठहार बन गईं। तुलसीदास की ही तरह वली भी फ़ारसी में रचना-सामर्थ्य रखते थे। पर उन्होंने अपनी कविता के लिये अनगढ़ दक्खिनी को चुना जिसमें से को सूँ और सेती तुम को तुमन, हम को हमन, तेरे को तुझ, भौं को भवाँ और पलक को पलकाँ लिखा जाता था। पर इसी अनगढ़ भाषा में वली ने वो कमाल कर दिखाया जो बहुत से ऐसे कवियों और रचनाकारों को आगे नहीं मयस्सर हुआ जिन्हें विरासत में एक तराशी हुई अभिव्यंजना-समृद्ध भाषा मिली। वली का दिल्ली आगमन एक अभूतपूर्व चमत्कार सिद्ध हुआ। मीर के जन्म (सन् 1722 ई.) के बाइस साल पहले सन् 1700 में वली का दिल्ली आगमन हुआ था। और उनके जन्म के तीन साल पहले सन् 1719 में वली का दीवान दिल्ली पहुँचा था। उस 'मीर' को जिसका लोहा ग़ालिब तक मानते थे और जिसके दीवान को उन्होंने 'कम अज़ गुल्शने कश्मीर नहीं' कहा था, वली ने सम्भव बनाया था। 'उर्दू शायरी का खुदा' माने गये मीर ने उर्दू के पहले पैग़म्बरे सखुन वली से बहुत कुछ सीखा था। संस्कृत और उस पर आश्रित हिन्दी समेत भाषाओं में संधि और समास का प्रयोग आम बात है। उर्दू में इसी तरह 'इज़ाफत' और 'अत्फ' इस्तेमाल में आते रहे हैं। दो शब्दों के बीच 'ओ' लगाकर उन्हें जोड़ने की प्रक्रिया को 'अत्फ़' कहते हैं। जैसे रहमो करम, खिज्रो मसीह, गुलो बुलबुल और अदाओ नाज़ आदि। दो शब्दों के बीच 'ए' लगाकर उनके आपसी सम्बंध संकेतित करने की प्रक्रिया को 'इज़ाफत' कहा गया है। जैसे नाल-ए-दिना, जमाल-ए-यार, ग़म-ए-दौरां और नग़म-ए-दिल आदि। शुरू से ग़ज़लों में 'अत्फ' और 'इज़ाफत' के प्रयोग के कारण उसकी भाषा में एक विशेष प्रकार का लचीलापन और लयात्मकता जैसे गुण विकसित हो गये थे। फारसी प्रेरित उर्दू काव्य-शास्त्र में फारसी शब्दों के साथ प्रयुक्त संस्कृत के हिन्दी में प्रचलित तद्भव और तत्सम शब्दों के साथ 'इज़ाफत' और 'अत्फ' का प्रयोग स्वीकार्य नहीं माना जाता। पर दक्खिनी में खासकर वली के यहां यह वर्जना मान्य नहीं थी। वहाँ नक्शे चरन और अक्से चरन जैसे कितने ही प्रयोग कवि की निरंकुशता की घोषणा करते सहज भाव से प्रकृतिस्थ हैं। मीर ने यहाँ वली का अनुगमन किया। उन्होंने अपनी रचनात्मक जरूरत के अनुसार फारसी और हिन्दी शब्दों को जोड़ने के लिये धड़ल्ले से 'इज़ाफत' और 'अत्फ' का इस्तेमाल किया। कभूँ, किसू, चास्सू और टुक जैसे अनेक शब्दों के प्रयोग मीर के यहाँ मिलते हैं जो खड़ीबोली या उर्दू में सामान्तया इस्तेमाल नहीं होते रहे हैं। हिन्दी की दूसरी बोलियों के शब्दों का बेहिचक इस्तेमाल भी मीर को वली से जोड़ना है।

'वली' की कविता में फारसी और संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों को इज़ाफत से जोड़ने की कुछ दिलचस्प बानगियाँ नीचे दी जाती हैं-

खींचें आपस में अँखियाँ मने जूँ कुहले जवाहर,
उश्शाक़ के गर हाथ वो **ख़ाके-चरन** आवे।

***

चाहो कि हो 'वली' की नैन जग में दूरबीं,
अँखियाँ में सुरमा पीर की **ख़ाके-चरन** करो।
चाहो कि पी के पग तले अपना वतन करो,
अव्वल अपस कूँ इज्ज़ में **नक़्शे-चरन** करो।

***

तेरी निगाह की तेग़ सूँ हैं **साहबे-संग्राम** राम।

नीचे फारसी के विशेषण 'शीरी' के साथ संस्कृत के 'बचन' शब्द का मिलाप एक और दिलचस्प नमूना है :-

फ़सीहाँ ख़ल्क़ के सारे तुझे **शीरीं-बचन** कहते,
पिशानी रोज़े-रोशन और ज़ुल्फ़ काली रैन कहते।

'वली' जिस दौर में रचनात्मक रूप से सक्रिय थे वह कालखंड हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। बिहारी, मतिराम, देव, आलम, वोधा, ठाकुर, रसलीन, घनानंद, वृन्द, लाल और नागरी दास थोड़ा आगे पीछे उनके समकालीन थे। यह बात एक ख़ास प्रयोजन से रेखांकित की जा रही है। इनमें से 'आलम' ने तो आचार्य शुक्ल के अनुसार रेख़्ते में भी रचनायें की थीं। रीतिकाल शृंगारिक काव्य-रचना का काल है। वली की कविताओं को रीतिकालीन कवियों की शृंगारिक कविताओं के बरअक्स देखना एक दिलचस्प अनुभव होगा। गीतात्मक तत्त्वों से अनुस्यूत वली की न केवल दिल्ली आगमन पूर्व की ग़ज़लें बल्कि शाह सादुल्लाह गुलशन के परामर्श के बाद लिखी गयी फारसी बहुलवाद की ग़ज़लें भी मुख्यतः शृंगारिक ही हैं। वह वस्तुतः शारीरिक सुन्दरता और शारीरिक प्रेम की कवितायें हैं। वली को देह-प्रेम का कवि मानता अनुचित नहीं होगा। उनकी अक्सर उद्धृत की जाने वाली नीचे दी गयी पंक्तियाँ इस दृष्टि से ख़ासतौर से ग़ौर तलब हैं-

शगल बेहतर है इश्क़बाजी का।
क्या हक़ीक़ी व क्या मजाज़ी का।
हर जबां पर है मिस्ल शानः मुदाम,
जिक्र तुझ ज़ुल्फ़ की दराजी का॥

***

ख़ूब रू ख़ूब काम़ करते हैं
इक निगह में गुलाम करते हैं।

ज़ाहिर है इश्क उनके लिये आग का दरिया नहीं था जिसमें डूब कर जाना होता है। उनके लिये इश्क़बाजी और शगलों से बेहतर शगल था जिसके हक़ीक़ी (नैसर्गिक) या मजाज़ी (लौकिक) होने से उन्हें कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता था। किसी गम्भीर भावनात्मक प्रतिबद्धता और ऐकान्तिक प्रेम निष्ठा से मुक्त वह उच्छल तरुणाई की कामना के कवि हैं। उनका उत्कंठ प्रेम अपने प्रेम पात्रों के दैहिक सौन्दर्य की प्रशस्तिगान से ही सन्तुष्ट प्रतीत होता है। जो कुछ निगाह की ज़द में पड़ता है 'वली' उसके अतिक्रमण में रुचि नहीं रखते। दरअसल वह प्रकाश और दृश्येन्द्रिय के कवि हैं। जहाँ उनकी ग़ज़लों में गीतात्मकता को नज़रअन्दाज करना मुश्किल है वहीं उन पर फारसी परम्परा का प्रभाव बहुत साफ़ दिखाई पड़ता है। फारसी कविता ख़ासतौर से ग़ज़ल अलंकारिकता के लिये विख्यात रही है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा यहाँ तक कि अन्योक्तियों तक का उसमें ख़ूब प्रयोग मिलता है। वली की कविता में प्रयुक्त रूपक और उपमा उसमें एक ऐसी अद्‌भुत ऐन्द्रिकता पैदा करते हैं जो उन्हें न केवल उनके समकालीनों में बल्कि परवर्तियों में भी विशिष्ट बना देते हैं। प्रेम-पात्र (माशूक) के रूप वर्णन हेतु नीचे दी गयी पंक्तियों में प्रयुक्त उनकी चाक्षुष उपमायें उन्हें प्रकाश और दृश्येन्द्रिय का एक विचक्षण कवि सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं-

तेरी तरफ़ अँखियों को कहाँ ताब कि देखें
सूरज सूँ ज़ियादा तिरे जामे की भड़क है

**

ऐ मू ए मियाँ वस्फ़ तिरे मू ए कमर का
चीते की कमर पर क़लमे-मू सों लिखा है

**

जब सूँ तू खाया है पान ऐ आफ़ताब
तेरे लाले-लब बदख़्शानी हुए

**

हाजत नहीं है शम्अ की इस अंजुमन मनें
जिस अंजुमन में शम्-ए-सजम का जमाल है

**

मुख तिरा आफ़ताबे-महशर है
नूर उसका जहाँ में घर घर है

**

तुझ रुख सूँ जब किनारे सुबह निक़ाब होवे
आलम तमाम रोशन ज्यूँ आफ़ताब होवे

**

तुझ तजल्ली के सहीफ़े का सरज है यक वरक़
अक्स तेरी ज़ुल्फ का जग में शबे-दैजूर है

वली द्वारा माशूक रूप के वर्णन के ऊपर दिये गये उदाहरणों के बरअक्स यदि हम घनानन्द की तथा वोधा और ठाकुर की कुछ कविताओं को अलग कर दें तो रीतिकालीन कविता भी नायिका के रूप वर्णन तथा उसके दैहिक आकर्षण के उत्सव की ही कविता लगती है। वह कनक छरी सी कामिनी के पीन पयोधर नासा मोरि नचाय दृग और प्रेमी के हिय में काँटे से कसकती कटीली भौं की कविता है। उपमा, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, यमक और श्लेष की अलंकारिता से जकड़ी वली के समय की रीतिकालीन हिन्दी कविता के तार काफी हद तक प्रत्यक्ष-परोक्ष रेख्ते की रचनाओं से भी जुड़े लगते हैं। ये दोनों काव्य धाराएँ अपने समय के सामाजिक सरोकारों से त्रासद रूप से बेख़बर हैं। वस्तुतः वह बड़े सपनों के टूटने का काल था। मुग़ल साम्राज्य के पतन के लक्षण प्रकट होने लगे थे। छोटी-छोटी रियासतों को स्वायत्त करते स्थानीय सामन्तों के सामने कोई बड़े उद्देश्य शेष नहीं रह गये थे। कामोदीप्त शृंगार के छोटे-छोटे सरोवरों में ऊभ-चूभ होना उनकी नियति बन गयी थी। इस पृष्ठभूमि में दक्षिण में अब्दुल्ला कुतुबशाह, ग़व्वासी, वजही, मीराँ हाशमी, नुसरती, सिराज औरंगाबादी और मिर्जा दाउद औरंगाबादी तथा उत्तर में आबरू, आरजू, हातिम जान जानां, ताबां, यकरंग, फुगां और फ़ायज़ की ग़ज़लों और नज्मों को यदि हम रीतिकालीन कविताओं के बरअक्स देखें तो निश्चय ही दोनों में पतनशील सामंती प्रवृतियों के ऐसे अनेक सूत्र मिलेंगे जिनका अध्ययन न केवल साहित्यिक दृष्टि से बल्कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी कई चौंकाने वाले नतीजे दे सकता है।

वली स्वभाव से घुमक्कड़ थे। उनकी कविताओं में अहमदाबाद सूरत, सतारा और बंगाल का जिक्र आता है। आशिकमिजाज़ वली न केवल सुन्दर किशोरों, तरुणों और स्त्रियों को दिल दे बैठते थे बल्कि राह चलते मोहक चेहरेवाले अजनबियों तक पर जान छिड़कते चलते थे। योरोप की चित्रकला से वह भलीभांति परिचित थे। उसमें चित्रित सुन्दर सुडौल शरीर के सम्मोहन से वह अभिभूत थे। उनके प्रेम की परिधि में सुन्दर शरीर के अलावा प्रकृति और वे स्थल और शहर भी शामिल थे जिनके सम्पर्क में वह अपनी यायावरी के दौरान आये थे। ऐसा लगता है कि सुन्दर चेहरों से बिछुड़ने से कहीं ज़्यादा पीड़ा उनके मन में उन स्थानों और शहरों के विछोह से होती थी जहाँ उन्होंने अपने जीवन के कुछ मूल्यवान समय बिताये थे। दिल्ली प्रस्थान के समय उन्होंने गुजरात वियोग पर बड़ी मार्मिक कविता लिखी है। उसकी कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

गुजरात के फिराक सूँ है ख़ार-ख़ार दिल
बेताब है सूने मने आतिल बहार दिल।
मरहम नहीं है इसके जख़म का जहामने

शमशीरे हिज्र सूँ जो हुआ है फ़िगार दिल।

इसी तरह सूरत शहर की प्रशस्ति में उन्होंने बड़ी प्यारी कविता लिखी है जिसमें विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का दिलचस्प वर्णन है। सज्जनता में उन्होंने सूरत को मक्के का सिंहद्वार कहा है-

"अहै सूरत हकीकत की निशानी।

कि है मामूर वाँ अहले मआनी॥

शराफ़त में यह है ज्यों बाबे मक्का।

तो है सब मुल्क पर उसका जो सिक्का॥

वली की कविता का दायरा काफ़ी व्यापक था। भले ही उसमें गहराई के अभाव के अरोप को झुठलाना कठिन लगे पर उसके विषय के विस्तार के बारे में दोराय असम्भव है। उनकी कविताओं में हिन्दुस्तान की ऋतुएँ, पशु, वृक्ष, वनस्पतियों, नदी, पहाड़, तीज, त्योहार, मिथकीय चरित्र और पौराणिक पात्र खूब उभर कर आते हैं। वली ने उस समय प्रचलित दक्खिनी की हर विधा में लिखा। उन्होंने हालांकि क़सीदे मस्नवी, मुस्तज़द, रूबाई, मुखम्मस क़िता और तरजीह बन्द सभी पर अपना हाथ अजमाया पर उर्दू साहित्य के इतिहास में उन्हें उनकी ग़ज़लों और ग़ज़लनुमा गीतों के लिये ही पूरे एहतराम के साथ याद किया जाता है। वली को वर्णन का कवि भी कहा जा सकता है। यहाँ उनकी कविताओं की वर्णनात्मकता उर्दू के लखनऊ स्कूल के कवियों की याद दिलाती है। यदि वली का काव्य संसार इतना व्यापक न होता तो निश्चय ही उनकी शायरी पर मीर के शब्दों में " चूमा-चाटी, लिपटने-चिपटने और कंधी-चोटी" की शायरी का इल्जाम बड़ी आसानी से लग सकता था। अपने काव्य फ़लक के विस्तार और उसकी सर्वग्राहिता के कारण वली इस आरोप से दामन बचा कर बाल-बाल निकल जाते हैं। लखनऊ और दिल्ली स्कूल की शायरी में जो मूलभूत और प्रकृति मूलक अन्तर है वह मात्र भाषायी कलेवर तक सीमित नहीं है। दिल्ली लगातार बाहरी आक्रमण और आघात झेलने के लिये अभिशप्त रही है। अत: सौ साल से पेशये आबा सिपहगिरी के बड़बोलेपन के वावजूद वहाँ के शायर हाशिये से सब कुछ विकल-विवश देखने के अलावा कुछ और कर पाने की स्थिति में नहीं थे। पतन-अभ्युदय के मार्ग को रौंदते चलते काल के रथचक्र से उड़ती धूल ने उन्हें अन्तर्मुखी और दार्शनिक बना दिया था। दिल्ली की तुलना में लखनऊ इतने सारे आघात-प्रतिघात झेलने के लिये अभिशप्त नहीं था। अत: वहाँ के शायरों ने अपना एक छोटा सा 'बहिश्त' खुद रच लिया था जिसके आनन्द-सरोवर में वह ऊभचूभ होते रहते थे। फलस्वरूप दार्शनिकता और अन्तर्मुखी होना उनकी नियति नहीं थी। अत: दिल्ली के शायरों के बरअक्स लखनऊ के शायरों की बहिर्मुखता ख़ासतौर से उल्लेखनीय रही है। उनकी रचनात्मकता लखनऊ के नाज़ो नफ़ासत और तकल्लुफों नज़ाकत से टकराकर फिर अपनी आत्मुग्धता में लीन हो जाती

थी। लखनऊ की शायरी गूदे की जगह छिलके को अर्थ की जगह शब्द को, दिल की जगह दुनिया को और तह की जगह सतह को उत्तरोत्तर अधिक से अधिक महत्त्व देती लगती है। दिल्ली के बरअक्स आगे चलकर जो हालत लखनऊ की रही लगभग वही हालत कमोवेश उसके दिल्ली के बरअक्स वली और उनके पूर्ववर्तियों के ज़माने में दक्षिण की रही। अत: यदि वली के समय की दक्खिनी की शायरी का गोत्र आगे चलकर लखनऊ की शायरी से जुड़ता है तो इसमें अचरज की बात नहीं है। इस आधार पर वली दिल्ली से कहीं अधिक लखनऊ के शायरों के सहोदर लगते हैं।

वली की शायरी में सूफी आध्यात्म और रहस्यवाद की चर्चा और खोज के पीछे वस्तुत: उन्हीं के हमनाम और समकालीन शायर वली वेल्लोरी की रचनाओं को उनकी ही रचनायें मान लेने की गलतफ़हमी रही है। वली वेल्लोरी का जन्म वर्तमान तमिलनाडु के वेल्लोर नामक शहर में हुआ था। उनके जन्म काल का पता नहीं चलता पर उनकी मृत्यु सन् 1724 के आस-पास अरकाट में हुई थी। वह एक धार्मिक व्यक्ति थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा में उनके दो काव्यों 'रतन व पदम' तथा रौज़ तुश्शुहदा' (शहीदों का चरित्र) का ज़िक्र किया है। 'रतन व पदम' में जायसी के पद्मावत की कथा का उपयोग किया गया है। 'रौज़ तुश्शुहदा' में पैग़म्बर मुहम्मद साहब के वंशजों द्वारा लड़े गये धर्मयुद्धों और उनके बलिदान (शहादत) का वर्णन है। अत: अगर एक बार वली वेल्लोरी की रचनायें वली दक्खिनी की मानने की ग़लती हो जाये तो वली दक्खिनी को सूफी आध्यात्मवादी मानने की राह निरापद हो जाती है। इसी तरह दोनों को अलग-अलग प्रकृति और जीवन-मूल्यों के व्यक्ति और रचनाकार होने की सच्चाई को स्वीकार कर लेने के स्थिति में इस विषय में किसी भी भ्रम की गुंजाइश नहीं बचती। ज्ञातव्य है कि वली वेल्लोरी को एक शायर के रूप में वली दक्खिनी को ख्याति और यश नहीं प्राप्त हो सका था। वली दक्खिनी दरअसल धार्मिक व्यक्ति नहीं थे। दक्खिनी साहित्य के शोधी विद्वान डा. सैयद मुहम्मद क़ादिरी 'ज़ोर' के शब्दों में 'जिसने ख़ूबसूरत लड़कों के इश्क और शराब की तारीफ़ में ग़ज़लें कहीं हों वह किस तरह एक मजहबी आदमी माना जा सकता है।" पर वली दक्खिनी की स्थूल प्रेममार्गी कविताओं में भी कहीं-कहीं सूफी रंग झलक उठता है। डा.'ज़ोर' के अनुसार जो मुसलमान इस्लाम निर्दिष्ट धार्मिक नियमों के अनुपालन में स्वयं को पूरी तरह सक्षम नहीं पाते थे और अपने सह धर्मियों की आलोचना-प्रत्यालोचना से बचना चाहते थे, अक्सर वह स्वयं को सूफी मत का अनुयायी घोषित कर देते थे। ऐसी स्थिति में वह इस्लाम के दैनंदिन धार्मिक आचार की पाबंदी से क़ाफी हद तक स्वतंत्र मान लिये जाते थे। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि वली दक्खिनी अपने हमनाम वली वेल्लोरी के विपरीत इस्लाम के सिद्धांतों में आस्था नहीं रखते थे, उचित नहीं होगा। शिया और सुन्नी दोनों सम्प्रदाय के अनुयायी

वली को अपने मत का सिद्ध करने का प्रयास अक्सर करते रहे हैं। वली वस्तुत: स्थूल प्रेम और भौतिक सौन्दर्य के कवि हैं। अत: उनमें आध्यात्यिकता ढूँढना उचित नहीं है। उनमें हाफिज और ग़ालिब की तरह सूफी आध्यात्मिकता की तलाश की मृगमरीचिका मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। पर वह धर्ममत में आस्था के बावजूद धार्मिक संकीर्णता से मुक्त थे। यही कारण है उनके यहाँ हिन्दू देवी-देवताओं, तीर्थ स्थानों और तीज-त्यौहारों का उन्मुक्त जिक्र आता है। उनके प्रशंसकों और अनुयायियों में हिन्दू, मुसलमान, शिया और सुन्नी सभी वर्ग के लोग थे। दिल्ली, अहमदाबाद और औरंगाबाद में उनके कुछ प्रमुख शिष्यों के नामों में लाला खेमदास, सैयद अब्दुल मानी, अमृत लाल, गौहर लाल तथा मुहम्मद यार खाँ की चर्चा की जाती है। इनके सन्दर्भ वली की शायरी में भी आते हैं। रूप और प्रेम की मस्ती के कवि वली को धर्म निरपेक्षता का अलमदार (ध्वजवाहक) मानना अनुचित नहीं होगा।

'वली' रूप और प्रेम की मस्ती के कवि हैं। अगर प्रसाद की कविता के सहारे कहें तो वह "कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते" कभी मौन कभी मुखर लाज भरे सौन्दर्य के कवि हैं। उनकी कुछ ग़ज़लों में इतना गहरा सौन्दर्यबोध है कि उसकी सहज अभिव्यक्ति उस समय की अनगढ़ भाषा में असम्भव लगती है। पर वली की नवोन्मेषी काव्य प्रतिभा ने उसी अनगढ़ता में से एक ऐसी अनूठी काव्य भाषा आविष्कृत कर ली थी जिसकी पुनरावृत्ति आगे चल कर असम्भव सी हो गयी। उनकी कविता के नीचे दिये गये कुछ उदाहरण उन पर लगे वहिर्मुखता के आरोप को कुछ समय के लिए ही सही सहज भाव निरस्त कर देते हैं-

सजन तुम मुख सिती उल्टो नक़ाब आहिस्ता- आहिस्ता।
कि ज्यों गुल से निकसता है गुलाब आहिस्ता-आहिस्ता।
अजब कुछ लुत्फ रखता है शबे ख़लवत में गुलरू सू,
खिताब आहिस्ता-आहिस्ता जवाब आहिस्ता आहिस्ता।

***

तुझ लब की सिफ़त लाले बदख़्शां से कहूँगा
जादू हैं तेरे नैना गिजाला से कहूँगा।

***

अजब नईं जब गुलाँ दौड़े पकड़ कर सूरते कुमरी
अदा सूँ जब चमन भीतर वह सर्वे-सरफ़राज़ आवे।
वली उस गौहरे काने हया की क्या कहूँ खूबीं
मेरे घर इस तरह आता है ज्यों सीने में राज आवे।

***

मेरी तरफ सागर वक़्फ आया है वो मस्ते हया

से दिल, तकल्लुफ बर तरफ मस्ताना हो मस्ताना हो।

'वली' अत्यन्त चंचल स्वभाव के कवि थे। स्थिरता उनके प्रकृति में नहीं थी। धारा के साथ बहना उनकी नियति थी। दिल्ली में शाह सादुल्लाह 'गुलशन' का साहचर्य और परामर्श तथा वहाँ फारसी की प्रतिष्ठा ने उन्हें अभिभूत कर लिया था। अभी तक फारसी में रचना-सामर्थ्य के बावजूद जिस वली ने अपनी कारत्रिणी प्रतिभा की अद्भुत छटा देशज दक्खिनी में बिखेरी थी वही वली अब अधिक से अधिक फारसी शब्दावली बहुल भाषा में ग़ज़लख्वानी करने लगे थे। गीतों से जुड़ाव के कारण ग़ज़ल में अभी तक जो इस देश की धरती के रूप-रस-गंध की व्याप्ति थी उस पर अब पटाक्षेप हो गया। वली तक तो गनीमत थी। फारसी काव्य-परम्परा की धारा में बहने के बावजूद वह कभी भी अपनी दक्खिनी की गर्भनाल से पूरी तरह कट नहीं पाये थे। अतः स्थानीय बोली और संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द पूरी तरह उनके यहां से निवार्सित नहीं हो सके। पर उनके तुरन्त बाद के कवियों आबरू, हातिम, नाज़ी, मज़मून और 'जानेजानाँ' आदि ने रेख्ते में अभी तक धड़ल्ले से प्रयोग में आ रहे हिन्दी और संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्दों तथा फारसी परम्परा से स्वतंत्र स्थानीय और देशज रूपकों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, मुहावरों तथा मिथकीय सन्दर्भों से ग़ज़ल को मुक्त और शुद्ध करने का एक पुरज़ोर अभियान शुरू कर दिया। राम बाबू सक्सेना ने तारीख-ए- अदब-ए-उर्दू में रेख्ते में चलाये गये इस शुद्धि अभियान के बारे में लिखा है कि इस दौर में रेख्ते से संस्कृत और दक्खिनी के शब्दों के निष्कासन का जो आन्दोलन शुरू हुआ वह 'मीर' और 'सौदा' के समय तक जारी रहा और शेख 'नासिख' के काल में इसका चरमोत्कर्ष हुआ। इस प्रवृत्ति पर 'आबे हयात' में मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ाद की उदास टिप्पणी गौर तलब है-

"हर देश का साहित्य न केवल अपने भूगोल और अपनी धरती के साथ जुड़े वातावरण का बल्कि अपने निवासियों के स्वभाव और उनके रीति-रिवाजों का प्रतिविम्ब होता है। यह अफसोस दिल से निकलता नहीं कि उर्दू कवियों ने भाषा के प्राकृतिक पुष्प को जो अपनी सुगंध से महकता और रंग से लहकता था नाहक ही अपने हाथ से फेंक दिया।"

यही पीड़ा बाव-ए-उर्दू मौलाना डा. अब्दुल हक़ ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है-

"हिन्दी, हमारी महबूब ज़बान उर्दू के लिये.........बमंज़िले ज़मीन (भूमि के समान) है। इसी ज़मीन पर फ़ारसी और अरबी के पौदे लगाये गये हैं। इसी तख़्त पर ग़ैर ज़बानों ने गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन निकाल दी जाये तो फिर उर्दू ज़बान का नामोनिशान बाकी नहीं रहेगा। हिन्दी को हम अपनी ज़बान के लिये उम्मुलिस्सान (भाषा की जननी) और हम्लाये अव्वल (मूल तत्त्व) कह सकते हैं। उसके बग़ैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं है।............ जो लोग हिन्दी से मुहब्बत नहीं करते वह उर्दू ज़बान

के हामी नहीं है। फारसी, अरबी या किसी दूसरी ज़बान के हामी हों तो हों।"

मौलाना अब्दुल हक़ साहब ने त्रैमासिक शोध पत्रिका 'उर्दू' के जनवरी सन् 1923 के अंक में फिर लिखा था कि "उर्दू शायरी ...... हिन्दी अरूज़ (काव्यशास्त्र) अख़्तियार न करने से बहुत सी ख़ूबियों से महरूम रह गयी।" हिन्दी और संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों को जो दक्खिनी (आगे चलकर रेख़्ते और उर्दू) में रच-बस गये थे चुन-चुन कर बहिष्कृत (मतरूक) करने की सन् 1700 ('वली' के दिल्ली आगमन) के तुरन्त बाद के अदीबों और शायरों में होड़ शुरू हो गयी। मौलाना डा. अब्दुल हक़ साहब के शब्दों में फिर तो "सेसे अदीब औ शायर आये जो मये शीराज़ (फारस का मशहूर शहर जहाँ के फारसी के विश्वविख्यात शायर हाफिज़ शीराज़ी थे) के मतवाले थे। ...... इसमें 'वली' और उनके हमअसर भी एक हद तक क़ाबिले इल्ज़ाम हैं।" जो भी हो, पर इसमें दो राय नहीं कि 'वली' के दिल्ली आगमन के बाद ग़ज़ल गीत के बंधन से मुक्त हो गयी और वह फारसी ग़ज़ल परम्परा से लगातार घनिष्ठ रूप से जुड़ती चली गयी। मये शीराज़ के नशे में 'वली' से प्रेरित दिल्ली के शायरों ने जो ग़ज़लें अट्ठारहवीं सदी में कहीं उसमें ताज़गी, स्वाभाविकता और नयापन छू तक नहीं गया है। वह फारसी की निस्तेज नकल सी लगती है। हां, मीर 'दर्द' और मीर तक़ी 'मीर' इसके अपवाद हैं। पर वली दक्खिनी की हिन्दी रचना परम्परा के कुछ चिराग़ फारसी के घटाटोप के बीच अभी भी रह-रह कर कहीं न कहीं टिमटिमा उठते थे। 'सौदा' की एक हिन्दी ग़ज़ल के नीचे दिए गये कुछ शेर इस दृष्टि से दिलचस्प हैं-

'निकल के चौखट से घर की प्यारे
जो पट की ओझल ठिठक रहा है।
सिमट के घट से तेरे दरस को
नयन में जी आ अटक रहा है।
अगन ने तेरे विरह की जब से
झुलस दिया है कलेजा मेरा,
हिये की धड़कन में क्या बताऊँ
ये कोयला सा चटक रहा है।
**

मुझे पसीना जो तेरे मुख पर
दिखाई दे है तो सोचता हूँ,
य क्योंकि सूरज की जोत आगे
हर एक़ तारा छटक रहा है।

सौदा के कुछ दोहे भी ग़ौर तलब हैं-

"कारी रैन डरावनी घर तें होइ निरास।

जंगल में जा सो रहे कोऊ आस न पास॥
बैरी पहुँचे आय के तेरी देहली पास।
वेग खबर लो या नबी अब पत की नहिं आस॥
**

खोयो ले ने नीर बिन नबी के मन को चैन
जालम तेरे हाथ से प्यासो गयो हुसैन।

वली के समकालीन दिल्ली के एक शायर नवाब सदरुद्दीन मुहम्मद खाँ बहादुर 'फाइज़' ने भी न केवल वली की ज़मीन में शेर कहे हैं बल्कि उनकी कुछ ग़जलें ऐसी हैं जो दिल्ली में दक्खिनी की परम्परा का विस्तार मानी जा सकती हैं। उनके नीचे दिये गये कुछ शेर ध्यान देने योग्य हैं-

सूरज का जलाने कूँ जिगर ज्यूँ दिले 'फ़ाइज',
ऐ नार! तू क्यों धूप में सर खोल खड़ी है।
**

कनक सूँ सफ़ादार है वह बदन।
कँवल डाल से हाथ, गुल से चरन॥
**

केले के गाभे से मुलायम दो हात।
देख के मुरझाते थे केले के पात॥
**

जूड़ा नहीं है गेंद है कन्हैया की।
यह सहस'नागनी है दरिया की॥
**

हर इक पनिहारिन वाँ इक अपछरा थी।
कुयें के गिर्द इन्दर की सभा थी॥

दक्खिनी की उस हिन्दी परम्परा की मशाल वली जिसके अन्तिम सम्वाहक थे इस तरह फारसी के घटाटोप में पूरी तरह बुझी नहीं थी। उसके ज्योति कण रह-रह कर दमक उठते थे। वली ने जहां अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी की उर्दू शायरी और सौदा, दर्द, मीर, ज़ौक, मोमिन और ग़ालिब जैसे शायरों को सम्भव बनाया वहीं उनकी दक्खिनी शायरी में व्याप्त हिन्दी तत्त्वों की गीतात्मकता और भारतीयता ('हिन्दोस्तानियत' शायद बेहतर शब्द होगा) ने समय-समय पर उर्दू को अमानत की 'इन्दर सभा अज़मतउल्लाह खाँ के सुरीले बोल' के अलावा अख्तर शीरानी, हफीज जालंधरी, क़वील शफाई, मुनीर नियाज़ी, जमीलुद्दीन आली, नासिर क़ाजमी और मीरा जी के वे रागात्मक गीत दिये जो वर्तमान हिन्दी-उर्दू के बीच एक नायाब पुल साबित होते हैं। फिराक की 'रूप' की

रूबाइयों का गोत्र भी प्रत्यक्ष-परोक्ष वली से ही जुड़ता है। वली के प्रभाव के तहत फाइज़ के कहे हुये चन्द शेर जो ऊपर दिये गये हैं उसमें 'फिराक़' की भावी पदचाप चुनी जा सकती है।

वली को अपने उच्चकोटि के रचना-सामर्थ्य का पूरा एहसास था। वह अपने को हिन्दुस्तान के माने हुये श्रेष्ठ फारसी कवियों से किसी प्रकार कमतर नहीं समझते थे। इस दृष्टि से उनका यह शेर ग़ौर तलब है-

उर्फ़िओ अनवरी ओ ख़ाकानी,
मुझको देते हैं सब हिसाबे सुख़न।

कविता की अनन्त सम्भावनाओं में वली का सा अदम्य विश्वास अन्यत्र मिलना दुर्लभ है-

"राहे मज़मून ताज़ा बन्द नहीं,
ताक़यामत खुला है बाबे सुखन"

(नई उद्भावनाओं की राह कभी बन्द नहीं होती। कविता का द्वार प्रलय पर्यन्त खुला है।)

महात्मा गांधी के ढेर सारे सपने अधूरे के अधूरे रह गये। उन अधूरे सपनों में एक सपना था आधुनिक हिन्दी और उर्दू के मेलजोल से एक सर्वमान्य भाषा हिन्दुस्तानी का विकास। इस दिशा में कभी देश का मानस अगर क्रियाशील हुआ तो वली के अवदान को कृतज्ञतापूर्वक याद किया जायेगा। हिन्दुस्तानी के इस आदि पुरुष को श्रद्धांजलि देने के लिये फ़िलहाल मख़्दूम मोहिउद्दीन की निम्नलिखित पंक्तियों से बेहतर शब्द ढूँढ पाना असम्भव प्रतीत हो रहा है-

"यकीं बख़्शा ज़बाँ को जिसने सबसे पहला जीने का।
वो पहला नाखुदा हिन्दोस्तानी के सफ़ीने का।
दिये रौशन किये मन्दिर में क़ाबे के चिराग़ों से।
हज़ारों जन्नतें आबाद कर दीं दिल के दाग़ों से।

□□□

# वली दक्खिनी के कलाम

1

यो तिल तुझ मुख के काअबा में मुझे अस्वदन हजर दिस्ता
ज़नखदाँ में तिरे मुझ चाहे ज़म्ज़म का असर दिस्ता
परेशां सामिरी का दिल तिरी ज़ुल्फ़े तिल्समि में
ज़मर्द रंग यो तिल मुझ कों सहर बाख़्तर दिस्ता
मेरा दिल चांद हुर, तिरी निगहे ऐअजाज़ की ऊंगली
कि जिस की यक इशारत में मुझे शक़्कुलक़मर दिस्ता
नैन देवल में पुतली यो है या काअबा में अस्वद है
हरन का है योनाफ़ा या कंवल भितर भंवर दिस्ता
वली शिरीं जबानी की नहीं हैं चाशनी सब को
हलावत फ़हेम को मेरा सुख़न शहद व शकर दिस्ता

2

दिल कों लगती है दिलरूबा की अदा
जी में बस्ती है ख़ुश अदा की अदा
गर्चे सब ख़ूब रौव हैं ख़ूब वले
क़त्ल करती है मीरज़ा की अदा
हर्फ़ बेजा है गर बोलूँ
दुशमनें होश है पिया की अदा
नक़्शे दीवार क्यों न हुए आशिक़
हैरत अफ़ज़ा है बेवफ़ा की अदा

गुल हुए ग़र्क़ आबे शब्नम में
देश उस साहबे हया की अदा
अशक रंगीं में ग़र्क़ है निस़ दिन
जिन ने देखा है तुझ हिना की अदा
ऐ वली दर्दे स़र की दारू है
मुझ कों उस सन्दली क़बा की अदा

3

मूस़ा अगर जो देखे तुझ नूर का तमाशा
उस कों पहाड़ हुवे फिर तोज़ का तमाशा
ऐ रशके बाग़े जन्नत तुझ पर अज़र किये सों
रिज़वां को होवे दोज़ख़ फिर हूर का तमाशा
रोज़े सियाह उस के होंटों सों जल्वाह गर है
तुझ ज़ुल्फ में जो देखा दिजोर का तमाशा
कसरत के फूल बन में जाते नहीं हैं आरिफ़
बस है मोहद्धों कों मन्सूर का तमाशा
है जिस सों यादगारी वो जल्वाहगर है दायम
तूं चीं में देख जा कर फ़गफूर का तमाशा
वो सर बुलंन्द आलिम अज़ बस है मुझ नजर में
ज्युं आस्मां अयां है मुझ दूर का तमाशा
तुझ ईशक़ में वली के अन्झो ऊबल चले हैं
ऐ बहरे हुस्न आ देख इस पूर का तमाशा
रूह बख़्शी है काम तुझ लब का
दमे ईसा है नाम तुझ लब का
हुस्न के खिज़्र ने किया लब्रेज़
आबे हैवां सों जाम तुझ लब का
मन्तक व हिक्मत व मआनी पर
मुशतमिल है क़लम तुझ लब का
रगे याक़ूत के क़लम सों लिखें
ख़त परिस्तां पयामे तुझ लब का

सब्ज़ा व बर्ग़ व लाला रखते हैं
शौक़, दिल में दवाम, तुझ लब का
गर्क़े शक्कर हुए हैं कम व ज़बां
जब लिया हूँ मैं नाम तुझ लब का
है वली की ज़बा को लज़्ज़त बख़्श
जिक्र हर सुबह व शाम तुझ लब का

4

देखना हर सुबह तुझ रुख़्सार का
है मुताआला मतलैअ अनवार का
बुल्बुल व परवाना करना दिल के तैयीं
काम है तुझ चेहरए गुल नार का
सुबह तेरा दरस पाया था सनम
शौक़े दिल मोहताज है तकरार का
माह के सीने ऊपर ए शमए रौ
दाग़ है तुझ हुस्न की झल्कार का
दिल को देता है हमारे पेज व ताब
पेच तेरे तुर्रए तर्रार का
जो सफ़िया तिरे दहन सों यक बचपन
भेद पाया नुस्ख ए असरा का
चाहता है इस जहाँ में गर बहिस्त
जा तमाशा देख उस रुख़्सार का
आरसी के हाथ सों डरता है ख़त
चोर को है ख़ौफ चौकीदार का
सर्कशि आतिश मिजाजी है सबब
नास्हों को गर्मीए बाज़ार का
ऐ वली क्यों सुन सके नास्हे की बात
जो दीवाना है परी रुख़्सार का

5

याद करना हर घड़ी उस यार का

है वज़िफ़ा मुझ दिले बीमार का
आरज़ुए चशमए कौसर नहीं
तिरना लब हूँ शबर्ते दीदार का
आकिब्त क्या होवेगा? मालूम नयीं
दिल हुआ है मुब्तेला दिलदार का
क्या कहे ताअरीफ़ दिल, है बेनजीर
हर्फ़ हर्फ इस मख़्ज़ने इस्रार का
गर हुआ है तालिबे आज़ादगी
बन्द मत हो सब्ह व जन्नार का
मस्नदे गुल मंजिले शब्नम हुई
देख रुत्बा दिदए बेदार का
ऐ वली होना सिरी जन पर निसार
मुद्दुआ है चशमे गौहरबार का

6

अया हर तरफ़ आलम में हुस्ने बेहजाब उस का
बग़ैर अज दिदए हैरां नहीं जग में नक़ाब उस का

हुआ है मुझ पे शमाए बज़्म यक रंगी सों यो रौशन
कि हर ज़र्रे ऊपर ताबां है दायम आफ़्ताब उस का

करें है अश्शाक़ कों जिंयु मूरते दीवार हैरत सों
अगर पर्दे सों वा हुवे जमाले बे हजाब उस का

सजन ने यक नज़र देखा निगाहे मस्त सों जिस कों
खराबाते दो आलम में सदा है वो ख़राब उस का

मिरा दिल पाक है अज़ बस, वली ज़ंगे कदुरत सों
हुआ जिंयु जौहरे आईना मख़्फ़ी पेच व ताब उस का

7

दिल को गर मतबाँ हो दर्पन का
मुफ़्त है देखना सरीजन का

जामा जेबां कों क्यों तुजों कि मुझे
घरे रखता है दूर दामन का
ऐ ज़बां कर मदद कि आज सनम
मुन्तिज़र है ब्याने रौशन का
हिक्मते इशक़ बू अली सों न पूछ
नयीं वो क़ानों शनास इस फन का
आईना तुझ से हो के हम ज़ानों
ग़ैरत अफ़ज़ा हुआ है गुल्शन का
अमन में तुझ निगे सों हैं बेदार
ख़ौफ नयीं मुफ़्लिसों कों रहज़न का
दिले सद पाराह तुझ पल्क सों है बन्द
खर्क़ा दोज़ी है काम सोज़न का
तुझ निगे सों ब शक्ले शान अस्ल
दिल हुआ घर हज़ार रोज़न का
टुक वली की तरफ़ निगाह करो
सुबह सों मुन्तिज़र है दर्शन का

8

किया यक बात में वाक़िफ़ मुझे राज़े निहानी का
लिंखू गुन्चै ऊपर हर्फ़ उस दहन की नुक्ता दानी
किताब्त मेजनी है शमे बज़्मे दिल कों ए कातिब
परे परवाना ऊपर लिख, सुख़न मुझ जां फ़िशानी का
अज़ीज़ां बाद मरने के न पूछो तुम कि तन्हा हो
लिखा हूँ पर्दाए दिल पर ख़्याल इस यार जानी का
छुपा कर पर्दाए फ़ानूस में रूख, शमा है गिरयां
सनिया है जब से आवाज़ा तिरी रौशन बयानी का
पिरती की बज़्म में ता सुर्ख़ रोई मुझ कों हो हासिल
नैन सों अपने दे साग़र शराबे अर्ग़वानी का
बजा है गर करे परवाज़ रंगे चेहरए आशिक़
हुआ है शौक़ मोहन कों लिबासे ज़अफ्रानी का

तिरे मुख् की सफ़ा है हैरत अफ़ज़ा क्यों सके लिख कर
क़लम है जौहरे आईनाए ना साफ़ मानी का
रहे वो मुक्मर जियु दिदए तस्वीर हैरां हो
लिखूं गर ख़ामए मो सों ब्यां मुझ ना तवानी का
शराबे जल्वए साक़ी सों मत कर मना ऐ ज़ाहिद
यही है मक़्तज़ा आलम में हंगामे जवानी का
वली जन ने बांधिया दिल को अपने नौनिहाल सों
न पाया फल जहां में उन नें हर्गिज़ ज़िंदगानी का

9

तुझ लब की सफ़त लाअले बद ख़शां सों कहूंगा
जादू हैं तिरे नैन गजांलां सों कहूंगा
दी बादशही हक़ नें तुझे हुस्न नगर की
युँ किशोरे दूरां में सुलेमां सों कहूंगा

ताअरीफ़ तिरे क़टली अल्फ़वार सरीजन
जा सरव गुलिस्तां को ख़ुश अल्हां सों कहूंगा

मुझ पर न करो ज़ुल्म तुम ए लैलैए ख़ुबां।
मजनूं हू तिरे ग़म कों बयाबां सों कहूंगा

देखा हूँ तुझे ख़्वाब में ए मायाए ख़ुबी
इस ख़्वाब को जा युसूफ़े किनाअं सों कहूंगा

जलता हूँ शब व रोज़ तिरे ग़म में ए साजन
ये सोज़े तिरा मशाअले सोंज़ां सों कहूंगा

यक नुक़्ता तिरे सफ़्हए रूख़ पर नहीं बेजा
इस मुख को तिरे सफ़्हएं कुरां सों कहूंगा

कुर्बान परी मुख पे हुई चोब सी जल कर
ये बात अजायब मयेह ताबां सों कहूंगा

बे सब्र न हो ए वली इस दर्द सों हर्गिज़
जलता हूं तिरे दर्द में दर्मां सों कहूंगा

10

इस क़द सों जिस चमन में वो नौनिहाल होगा
क्या सरो, क्या सनोबरा हर यक निहाल होगा

आवेगा गर सुख़न में वो मायाए लताफ़त
शर्मिंदा उस के आगे आबे ज़लाल होगा

आलम में जो हुआ है तालिबे तिरी भुवा का
उस के नगीने दिल पर अक़्शे हलाल होगा

है उस के हक़ में हर शब मानिंन्द रोज़े महशर
जिस को फ़राक़े जाना सीने का साल होगा

माअनी के जुए चमन में है बुल्बुले माअफी
तुझ गुल बदन के देखे रंगीं ख़्याल होगा

जिंयु शमा गुल पड़े गे शमिंदगी से गुल रौ
जिस अंजुमन में हाज़िर गोविन्द लाल होगा

अल्बत्ता वस्फ तिरा लावेगा हर सुख़न में
जो शेर में वली सा साहब कमाल होगा

11

तुम मुख का यो जिल देख कर लाले का दिल काला हुआ
तुझ दौरे ख़त सों तोक़ जियों महताब पर हाला हुआ

मस्ती मनिं महेशर तल्क को नैन कों बसरा है वुव
जो तुझ नैन के जाम सों मिदाह पी के मत्वाला हुआ

गुलज़ार की मब्हस मनिं थी सस्ती की गुफ्तगु
शमशाद पर तुझं सर्व का अक्सर सुखन बाला हुआ

काजल नैन का देख कर बोले हैं यों जादूगरां
अशाक़ की तस्वीर कों यों सहर बंगाला हुआ

ग़म्ज़ां की फ़ौजां बांध कर आए हैं रावत नैन के
हर मू पल्क का हाथ में उन के सो जुं भाला हुआ

जलाता है दोज़ख रात दिन तिरे जले के रशक सों
मुशताक़ तिरे हद का जन्नत सों निर्वाला हुआ

सर नैन की शमशिर की ऊझड़ वली के दिल ऊपर
तेरे शिकार स्तान में यो नख्चीर है पाला हुआ

12

जल्वाह गर जब सों वुव जमाल हुआ
नूरे ख़ुर्शिद पायेमाल हुआ
फ़ैज़े तशबिहे क़दे दिल बरसों
सरों गुल्शन मनिं निहाल हुआ
नशए सब्ज़ए ख़ते खुंबां
वालिए आलमे ख़्याल हुआ
याद कर तुझ भवां की बेत बुलंद
माहे नौ साहबें कमाल हुआ
देख कर तुझ निगाह की शोखी
होशे आशिक़ रमे ग़ज़ाल हुआ
हुस्न उस दिलरूबा का मुद्दत सों
अक्से आईनए ख़्याल हुआ
वस्फ़ में तुझ भवां के हर मिस्राअ
सानिए मिस्रऔ हलाल हुआ
जिन ने देखा है तुझ निगाह की तेग़
फिर के जीना उसे मुहाल हुआ
ग़ज़ल मज्नूं के बाद मुझ कों वली
सुबए आशिक़ी बहाल हुआ

13

हर अंझो तुझ ग़म में ऐ रंगीं अदा गुल गों हुआ
ग़ैरते गुलेज़ार जन्नत दामनें पर खूं हुआ
है पसन्दे तबाअ आली मिस्रऔ सर्वे बुलंद
जब सों गुल्शन में तिरा क़द देख कर मौज़ुं हुआ

रात दिन अंझुआं में अपने शास्त्र करता है तर
ऐ ब्राह्मण देख तुझ कों बेद ख्वाहं मज्नूं हुआ
गर नहीं है ख़ंज्जरे बेदाद ख़ुबां का शहीद
दामनें सद चाक गुल किस वास्ते पुर ख़ूं हुआ
हर ग़ज़ल में वस्फ़ लिखता है तिरे बेइख़्तियार
तुझ निगाहे बा अदा सों जब वली मम्नूं हुआ

14

चश्मे दिल्बर में ख़ुश अदा पाया
आलमे दिल कों मुब्तिला पाया
सैर सहरा की तों न कर हर्गिज
दिल के सहरा में गए ख़ुदा पाया
जब न आया था शिकम मादर में
इब्तिदा सों न इन्तिहा पाया
इस्म अल्लाह वुव मीम अहमद हैं
हक़ सितीं हक़ कों हक़ नुमा पाया
हिफ़्ज़ करने कों मुस्तफ़ा रोकूं
फि ख़ैरन व हाफ़िज़न पाया
बादशाहे नज्फ़ वलीउल्लाह
पीरे कामिक अलीं रज़ा पाया
इस मआफ़ी को बुल्हवास नादां
क्यों कि समझे वली ने क्या पाया

15

दिल में जब इशक नें तासीर किया
फर्दे बातिल ख़ते तदबीर किया
बन्द करने दिले वहशत ज़दा कों
दाम ज़हें ज़ुल्फ़ें गिरह गीर किया
मौजे रफ़्तार ने तुझ क़द की सनम

सर्वे आज़ाद कों ज़न्जीर किया
सब्ज़ बख़्तों में ऊसे लिखते हैं
वस्फ़ तुझ ख़त के जो तहरीर किया
जुज़ अल्म उस कों न होवे हासिल
इशक़े बे पीर कों जो पीर किया
शमा मानिन्द जली उस कीं जबां
जन नें मुझ सोज़ की तक़रीर किया
गिरय व गर्दे मलामत सो वली
खानए इशक को ताअमीर किया

16

सहनें गुल्शन में जब ख़िराम किया
सर्व आज़ाद कों ग़ुलाम किया
हक़ तिरा जग में क्यों न हो हाफ़िज
कि तुझे हाफ़िज़े कलाम किया
कामीलियत का तुझ कों या दाअवा
हक़ ने दाअवा तिरा तमाम किया
वुव मवां हम से क्यों न हो बांकी
माहे नौ ने जिसे सलाम किया
ग़म्ज़ए शौक़ नें ब नीम निगाह
कम अशाक़ का तमाम किया
हक़ ने तुझ कद कों देख मिस्ल अलिफ़
खुश कदां का तुझे ईमाम किया
काफ़ को फ़ी है तुझ कमर का पेच
जग में इस को सरे कलाम किया
ता कहे खल्क तुझ को माहे तमाम
ज़ुल्फ़ तिरी कों हक़ नें लाम किया
गुल रखां खौफ़ सों हुए यक्स
तुझ निगाह नें जब अैहतिमाम किया

नाम तिरा वली नें ऐ अक्मल
शौक़ सों दर्द सुबह व शाम किया

17

है क़द तिरा सराया माअ़निए नाज़ गोया
पोशिदा दिल में मेरे आता है राज़ गोया
मअ़ानी तरफ़ चलिया है सुरत सों यों मिरा दिल
सुरत सिति चलिया है कअ़ाबे जहाज़ गोया
हर यक निगे में तेरी है नगमए मुहब्बत
हर तार तुझ निगे का है तारे साज गोया
ऐ क़िब्ला रौ हमेशा महराब में भवां की
करती हैं तेरी पल्कां मिलकर नमाज़ गोया
तेरी कमर मुस्सविर चित्रा है इस अदा सों
कैता है सर्फ़ इस में नाज़ व नियाज़ गोया
तुझ ज़ुल्फ़ कों जो बोलिया हम दोष मिस्रअें क़द
रखता है मुझ बराबरं फ़िक्रे दराज गोया
वो क़ातिले सित्म गर आता है यो वली पर
जल्दी सों स़य्यद ऊपर आता है बाज़ गोया

18

मिलिया वुव गुल बदन जिस कों उसे गुल्शन सों क्या मतलब
जो पाया वस्ले युसूफ़ उस कों पैराहन सों क्या मतलब
मुझे अस्बाबे ख़ुदबीनी सों दायम अक्स है दिल में
किया जो तर्क ज़ीनत कों उसे दर्पन सों क्या मतलब
सुख़न साहब सुख़न के सुन के मिलने की हवस मत कर
जवाहर जब हुए हासिल तो फिर मअ़दीन सों क्या मतलब
अज़िज़ां बाग़ में जाना निपट दुशवार है मुझ कों
गली गुल रौ की पाया हूँ मुझे गुल्शन सों क्या मतलब

वली मनिं रहना नहीं दरकार आशिक कों
जो तालिब ला मकां का है उसे मस्कन सों क्या मतलब

19

है हुस्न के मुलक में सजन तुझ कों राज आज
खुश दिल्बरी का तुझ कों मिला तख़्त व ताज आज
इस नाज़ हर आदा के तज्जमुल कों देख कर
सब दितबरां ने आ के दिया तुझ कों बाज आज
परवाना हो के क्यों न गिरे चाँद चर्ख़ सों
फ़ानूसे दिल में शौक़ तिरा है सिराज आज
तुझ ज़ुल्फ़ की ज़ंजीर पे रख दांते फ़ेले मस्त
किस भेद सों कंघी कों दिया आ के बाज आज
मक़्सूद वुव जहां मनिं मेरा सो तू नचा है
जग में नहीं किसी सों तिरे बाज काज आज
लब में तिरे मफ़र्फ़ेह याक़ूत है सजन
बीमारे दिल मिरे कों वही है इलाज आज
वो शोख मुझ कों आ के मिला इस सब्ब वली
शादी में उम्र की स़र्फ़ किया हूँ मैं लाज आज

20

तिरी निगे की मस्ती है दिल्बरी के मानिन्द
तिरी निगाह मौज़ूं है अब्हरी के मानिन्द
ज़ाहिर नहीं किसी पर तुझ लाअल की हाक़िक़त
वाफ़िफ हुआ हूँ इस सों मैं जोहरी के मानिन्द
हर चन्द रंगे ज़र्दी हासिल है आशिक़ों कों
लेकिन शगुफ़ता रौ हैं गुल जाअफ्सरी के मानिन्द
ताक़त नहीं किसी कों ताऊस सनम कों देखे
आलिम की है नज़र सों पिन्हां परी के मानिन्द
ये रेख़्ता वली का जाकर उसे सुनाओ

रखता फ़िक्रे रौशन जो अनवरी के मानिन्द

21

ए बादे सबा बाग़ में मोहन के गुज़र कर
मुझे दाग़ की उस लालए खूनीं कों ख़बर कर
क्या दर्द किसी कों कि कहे दर्द मिरा जा
ए आह मिरे दर्द की तों जा के ख़बर कर
सब तर्ज़े तगाफुल कों मिरे हक़ में खा रख
ए शोख़ मिरी आह सों अल्बत्ता हज़्र कर
दुजा नहीं ता पि सों कहे दिल की हक़िकत
ए दर्द तू जा जिसु मैं इस पी के असर कर
क्या ग़म है उसे तीरे हवादिस सों जहां में
बुझा जो कोई गर्दिशे साग़र कों सिपर कर
कई बार लिखा उस की तरफ़ नामे कों लेकिन
हर बार सय अशक नें मुझ़ नामे को तर कर
हर वक़्त न सर कहले तग़ाफुल कों अंखां हैं
टुक हर सों इस तरफ इए बे महर नज़र कर
उस साहब दानिश सों वली है ये तअज्जुब
यक बारागि क्यों मुझ कों गया दिल से बिसर कर

22

दिल मिरा है दो आतिशें पैकर
राख हो गए हैं जिस को देख शरर
क्या कहूं नब्जे दिल की बेताबी
कूत जिस का है आतिशीं नशतर
इशक बाज़ां में उस कों राहत है
जिस कों अल्मास का मिला बिस्तर
ऊन नें पाया है मंजिले मक़्सूद
ञिशक़ जिस का है हादी व रहबर
तर्क लज़्ज़त की जिस कों है लज़्ज़त
शक्कर उस कों ज़हर, ज़हर शक्कर

आशना यां कों मौजे आबे वफ़ा
है मुहब्बत की तेग़ का जौहर
बज़्मे दिल्बर में ए वली जा तू
शौक़ का आज हाथ ले साग़र

23

सजन की ख़ुर्द सालों पर ख़ुदा नासिर ख़ुदा हाफिज़
रक़िबां की मलामत सों मुहम्मद मुस्तफ़ा हाफ़िज
सजन के हुस्ने अफ़ज़ों पर ख़ुदाया तू अमां करना
कि इस उम्मीदे गुल्शन पर अली मुर्तुज़ा हाफ़िज़
सजन की तेग़ अब्रू सों शहादत गाह पाऊं मैं
मिरे इस क़त्ल होने पर शहीदे कर्बला हाफिज़
सजन का मुख मुनव्वर, नूर आयत, फ़ाल मस्हफ़े है
कि अहले नामुरादां पर दुआए हल अता हाफ़िज
वली ग़म्गीं न हो ये भेद अस्रारे इलाही है
कि तेरी हस्तगिरी पर निगाह दिल्रूबा हाफ़िज़

24

दिल तुझ निगाहे गर्म सों सुजां है जियुं चराग़
इस सोज़े शोअला ख़ेज़ सों ख़न्दा है जियुं चराग़
वुव आब व ताब हुस्न में तेरे हैं ए सजन
ख़ुर्शिद जिस कों देख के लर्ज़ां है जियुं चराग़
युं तुझ न्ज़ीक ख़ज्ल है नमक हर जमाल का
रौशन सुबह कों देख पशेमां है जियुं चराग़
मस्नंद पे आफियत की वुव है बादशाहे वक़्त
जिस दिल की अन्जुमन मनिं इमां है जियुं चराग़
आलिम की दोस्ती सों है नफ़रत वली कितयीं
हर आशना के दम सों गुरेज़ां है जियुं चराग़

25

मुद्दत हुई सजन ने दिखाया नहीं जमाल

दिख्ला अपस के क़द कों क्या नयीं मुझे निहाल
यक बार देख मुझ तरफ़ अब अिदे आशिकां
तुझ अब्र वां की याद सों लागर हूँ जियुं हलाल
बर जा है गए हम्न पे तसद्दुक़ हो मुशतरी
बोला हूँ तुझ जमाल कों खुर्शिद बेज़वाल
वुव दिल कि या जो सोख्तए आतिशे फराक़
पहंचा है जा के रुख़ कों सनम के बरंगे ख़ाल
मुम्किन नहीं कि बदर हो नुक्सां सों आशना
लावे अगर ख़्याल में तुझ हुस्न का कमाल
गर मुज़्तरिब हैं आशिक़े बे दिल अज्ब नहीं
वैहशी हुए हैं तेरी अंखां देख कर ग़ज़ाल
फ़ैज़े नसीमे महुऐ वफ़ा सों जहान में
गुल ज़ार तुझ बहार का है अब तल्क बहाल
खोया है गुल रखां नें रअुन्त सों आव व रंग
गर्दनकशी है शमा की गर्दन ऊप्र व बाल
हर्गिज़ न देवे रस्मे वफ़ा हाथ सों वली
यक बार इस ग़ज़ल कों सुने गर गोबिन्दलाल

26

तुझ मुख ऊपर है रंगे शराबे अयाग़े गुल
तेरी ज़ुलफ़ है हल्क़ए दूदे चरागे गुल
माअशूक़ कूं, ज़रर नहीं आशिक़ की आह सों
बुझता नहीं है बादेसबा सों चरागे गुल
रहता है दिल पिया के तफ़हस्र में रात दिन
है कारे अंदलिब हमेशा सुरागे गुल
आशिक़ म्दाम हाले परेशां सों शाह है
आ शफ़्तगी के बीच है दायम फ़राग़े गुल
तुझ दाग़ सों हुआ है चमन ज़ार दिल मिरा
अए शोख़ आ के देख तमाशाए बाग़े गुल
चलते हैं पी के शौक़ सों अशाक़ रात दिन

है दिल में बुल्बुलां के शब व रोज़ दाग़े गुल
यां तुझ सुखन में नशाए मआनी है ए वली
जियुं रंग वब्रू की मए सों है लब्रेज़ अयाग़े गुल

27

नाज़ मत कर तुझ अदा की क़सम
वे तकल्लुफ़ हो मिल खुदा की क़सम
ज़ुल्फ़ व रुख़ है तिरा जो लैल व नहार
मुझकों वल्लैले बद्दुहा की क़सम
सरोक़द को कशिदा क़ाम्तेयार
रास्त वोलिया हूँ तुझ अदा की क़सम
मस्हंफ़े रुख़ तिरा है सूरते फ़ज्र
मुझ को वल्नज्म इज़ा हुआ की क़सम
ज़ुल्म मत कर सजन! वली ऊपर
तुझ कों है शाहे कर्बला की क़सम

28

जियो गुल शगुफ़्ता रौ हैं सुख़न के चमन में हम
जियो शमा सर बुलन्द हैं हर अन्जुमन में हम
हम पास आ के बात नज़ीरी की मत कहो
रखते नहीं नज़ीर अपस की सुख़न में हम
हैं दास्तां बर्राह मनिं मुझ याद कई हजार
उस्ताद बुलबुलां के हैं हर यक चमन में हम
खोबां जगत के ज्यों सों मिलते हैं हमसिति
कामिल हुए हैं बस कि मुहब्बत के फ़न में हम
उस शोख़े शोअला रंग सों जब सों लगन लगी
जलते हैं तबं सों शोअला निम्त इस लगन में हम
यक बार हँस के बोल सनम नयीं तो हशर लग
ज्यों बर्के बेकरार रहेंगे कुफ़्न में हम
हर चन्द जग के बख़्त सियाहों में हैं विले

काजल हो, जा बसे हैं सजन के नैन में हम
फ़र्हाद तब सों तीशा निम्न सर किया तले
बाँधे हैं जब सों जियो कों शिरी बचन में हम
दो जग हुए हैं दिल सोंफामोश ए वली
रखते हैं जब सों याद सिरि जन की मन में हम

29

चमन की सैर सों नफ़रत है इस सबब कि मुझे
सफ़ेद दाग़ सों मक्रूह है समन तुझ बिन
ऐ रशके चशमए खिज़्र अपने मुख की शमा दिखा
कि है ब सुरते ज़ुल्मात अन्जुमन तुझ बिन
न कर तगाफ़ुली ऐ मिस्र हुस्न के युसूफ़
मिसाले दिदए याकूब हैं नैन तुझ बिन
वली के दिल की हक़िकत बयान क्यों के करूँ
गिरह हुआ है ज़बां पर मिरी सुखन तुझ बिन

30

दिल हुआ है मिरा ख़राबे सुख़न
देख कर हुस्ने बेहजाबे सुख़न
बज़्में मआनी में सरख़ुशी है उसे
जिस कों है नशए शराबे सुख़न
राहे मज़्मूने ताज़ा बन्द नहीं
ता क़यामत खुला है बाबे सुखन
जल्वाह पैरा हो शहिदे मआनी
जब जबां सों उठे नक़ाबे सुखन
गौहर उसकी नज़र में जा न करे
जिसने देखा है आब व ताबे सुख़न
हर जगह गोयां की बात क्योंकि सुने
जो सुना नग़म ए ख़ाबे सुख़न
है तिरी बात ए नज़ाक्ते फ़हेम

लौहे दिबाचए क़िताबे सुख़न
है सुख़न जग मनिं अदिमुम्सिल
जुज़ सुखन नहीं दुजा जवांबे सुख़न
लफ़्ज़े रगीं है मल्लैअ रगीं
नूरे मआनी है आफ़्ताबे सुख़न
शेअर फैहमों देख कर गर्मी
दिले हुआं है मिरा कबाबे सुख़न
ऊर्फ़ी व अनवरी व ख़ाक़ानी
मुजको देते हैं सब हिसाबे सुख़न
ऐ वली दर्दे सर क्यों न रहे
गर मले सन्दल व गुलाबे सुख़न

**कविता कौमुदी से**
**वली की आठ रचनाएँ**

## (1) गुजरात-वियोग

गुजरातके फिराक[1] सों है ख़ार-ख़ार[2] दिल।
बेताब[3] है सूनेमनें[4] आतिलबहार[5] दिल॥

मरहम नहीं है इसके जख़मका जहाँमने।
शम्शेरे-हिज्र[6] सों जो हुआ है फ़िगार[7] दिल॥

अव्वल[8] सों था ज़ईफ़[9] यह पाबस्ता[10] सोज़[11] में।
ज्यों बात है अगिनके उपर बेकरार दिल॥

इस सैरके नशे सों अवल तर दिमाग था।
आख़िरकुँ इस फिराक़ में खींचा खुमार[12] दिल॥

मेरे सुनेमें आके चमन देख इश्क़ का।
है जोशे-खँ[13] गों तनमें मेरे लालाजार दिल॥

हासिल[14] किया हूँ जगमें सराया[15] शिकस्तगी[16]।
देखा है मुझ शकीबे[17] हों सुब्हेबहार[18] दिल॥

हिजरत सों दोस्ताँके हुआ जी मेरा गुजर।
इश्रत[19] के पैरहन[20] कुँ दिया तार-तार दिल॥

हर आशना[21] की याद[22] की गर्मीसों तनमने[23]।
हरदममें बेक़रार[24] है मिस्ले-शरार[25] दिल॥

सब आशिक़ाँ[26] हजूर अछे पाक सुर्ख़रू[27]।
अपना अपस लहूसों किया है फ़िगार दिल॥

हासिल हुआ है मुजकूँ समर[28] मुज-शिकस्त[29] सों।
पाया है चाक-चाक़[30] हो शकले-अनार[31] दिल॥

अफसोस है तमाम कि आख़िरकुँ[32] दोस्ताँ।
इस मैक़दे[33] सों उसके चला सुध बिसार दिल॥

लेकिन हजार शुक्र वली हक़के फ़ैज़[34] सों।
फिर उसके देखनेका है उम्मेदवार दिल॥

---

1. वियोग, 2. काँटा-काँटा, 3. अधीर, 4. शून्य में, 5. आग बरसता, 6. वियोग के खड्ग, 7. घायल, 8. प्रथम, 9. निर्बल, 10. पादनिगडित, 11. जलन, 12. मदालसता, 13. खून के उबाल 14. प्राप्त 15. सिर से पैर तक 16. पराजित 17. सन्तोष 18. वसन्त का प्रातः, 19. प्रमोद 20. परिधान 21. मित्र 22. स्मृति 23 शरीर में 24. अधीर, 25. अंगारे की तरह, 26. प्रेमी, 27. भाग्यशाली, 28. फल, 29. मेरी हार, 30. टुकड़े-टुकड़े, 31. अनार-जैसी, 32. अन्त में, 33 मद्यशाला, 34. सत्य (भगवान्) की दया।

(2) **एक पथिक का प्रेम-**

लागी है लगन तुमसों छुड़ा कौन सकेगा।
है किसमें यह कुदरत[1] ॥

अजब मुजकुं वतन अपने ले जा कौन सकेगा।
कर दिलसों रफ़ाक़त[2] ॥

है नक़श किनारी का तेरे जामेके ऊपर।
ऐ हिन्द के बाँके॥

दामन[3] कुँ तेरे हाथ लगा कौन सकेगा।
नैं ज़ोर नैं ताक़त॥

हूँ ख़ाक तुम्हारी ही गली का ऐ सिरीजन।
नैं काम कफ़न सों॥

अब मुझकूँ जनाज़े[4] में उठा कौन सकेगा।
यों ग़र[5] है हक़ीक़त।[6]।

मत मारो वली कूँ मैं यह कहता हूँ कहाकर।
सुन बात हमारी॥

इस हिज्र[7] के तूमार[8] कूँ पा कौन सकेगा।
बिन ग़म्ज़ा-ज़राफ़त[9] ॥

(3) तुझ लब की सिफ़त लाल बदख़्शाँ से कहूँगा।
जादू हैं तेरे नैन ग़ज़ाला से कहूँगा॥

दी हक़ ने तुझे बादशही हुस्न-नगर की।
यह किश्वरे ईराँ में सुलेमाँ से कहूँगा॥

ज़ख्मी किया है मुझे तेरी पलकों की अनी ने।
यह ज़ख़्म तेरा ख़ंजरे भालाँ से कहूँगा॥

1. सामर्थ्य 2.मित्रता 3.अंचल 4. अरथी 5. यदि 6. सत्य 7. वियोग 8. राशि 9. कटाक्ष-लालित्य।

बे सब्र न हो ऐ 'वली'! इस दर्द मे हरगाह।
जल्दी से तेरे दर्द की दरमाँ से कहूँगा॥

(4) टुक 'वली' को सनम गले से लगा।
तुझको है बन्दापरवरी की क़सम॥

(5) बेवफ़ाई न कर खुदा सूँ डर।
जग हँसाई न कर खुदा सूँ डर॥

है जुदाई में ज़िन्दगी मुश्किल।
आ जुदाई न कर खुदा सूँ डर॥

आरसी देखकर न हो मग़रूर।
खुदनुमाई न कर खुदा सूँ डर॥

(6) देखना हर सुबह तुझ रुखसार का।
है मुताला मतलए अनवार का॥

याद करना हर घड़ी तुझ यार का।
है वज़ीफ़ा मुझ दिले बीमार का॥

आरजूए चश्मए कौसर नहीं।
तिश्नालब हूँ शरबते दीदार का॥

आक़बत होवेगा क्या मालूम नहीं।
दिल हुआ है मुब्तिला दीदार का॥

मसनदे गुल मंज़िले शबनम हुई।
देख रुतबा दीदए-बेदार का॥

(7) जिस वक़्त ऐ सरीजन! तू बेहिजाब होगा।
हर ज़र्रा तुझ झलक सूँ जूँ आफ़ताब होगा॥

मत जा चमन मों लाला बुलबुल प मत सितम कर।
गरमी सूँ तुझ निगह का गल गल गुलाब होगा॥

मत आइना को दिखला अपना जमाल रोशन।
तुझ मुख की ताब देखे आईन: आब होगा॥

मुझको हुआ है मालुम ऐ मस्ते जामे खूनी।
तुझ अँखड़ियां के देखे आलम खराब होगा॥

(8) सजन तुम सुख सेती खोलो नक़ाब आहिस्ता आहिस्ता।
कि ज्यों गुल[1] से निकलता है गुलाब आहिस्ता आहिस्ता॥

हज़ाराँ लाख खूवाँ[2] में सजन मेरा चले यूँ कर।
सितारों में चलें ज्यों माहताब[3] आहिस्ता आहिस्ता॥

सलोने साँवरे पीतम तेरे मोती की झलकाँ ने।
किया अवदे-पुरैय्या[4] को ख़राब आहिस्ता आहिस्ता॥

(कविता कौमुदी -सं.पं.रामनरेश त्रिपाठी)

---

## फ़र्हंग

*अपस* – *अपने आप खुद*
*अतपत* – *असल नसल*
*अजान* – *अनजान*
*अछो* – *रहो*
*अझोंतक* – *अभी तक*
*अधिक* – *ज़्यादा*
*अंधकार* – *अन्धेरा*
*अंखे* – *आंखें*
*अहे* – *है*
*आल* – *आंच*
*आल्स* – *सुस्ती*
*आन्झों* – *आंसू*
*आहो पछाड़* – *हरन गिराने वाला*
*आए पर* – *आने पर*
*इत्ती* – *इतनी*
*ऊनन को* – *उनको*
*ओझड़* – *तल्वार का वार-नज़र के वार*
*ऊठ* – *ओट*
*बाज* – *बग़ैर-ख़िराज*
*बाड़* – *हद्दबन्दी-तलवार की धार*
*बाड़ा घाट* – *बाला घाट-ताप्ती नदी के एक घाट का नाम*
*बाला* – *कान का ज़ेवर-नों खेज़*
*बाले बाल* – *बाल बाल में*
*बिसारना* – *भुलाना-भूलना*
*बिस्तार* – *तफ़्सील-साज़ व सामान*
*भाल* – *भाला-निशानी*

---

1. गुलाब का फूल 2. प्रेमिकाओं 3. चन्द्रमा 4. तारों का समूह

भड़कना — चौंकना
भाव — अदा-नाज़
भूती — राख
भुजंग — सांप
बेजली — बिजली
बेद ख्वान — ब्राह्मण
बेरागी — जोगी
बेगोबेगी — जल्द
पती — ख़त-पर्ची
पटपट — टपटप
टपका — कमर पर बांधने का रुमाल
परान — जान
पिरित — मुहब्बत
परम — मुहब्बत, प्रेम
पग — पांव
पोन्जी — पहुंची
पोर — सैलाब
फिर कर — दोबारा
तासी — तास एक किस्म का कपड़ा
तान — खेंच गाने में तान
तप — इबादत
तदहान — जब से उस वक़्त
तरवार — तलवार
तशरिफ — ख़ल्अत
तोन्चा — तू ही
टपती — आरज़ू करती
ठाट — तय्यारी
टुक — ज़रा
जाले — जाला-जलाया
जल पोर — पानी से भरा हुआ
जलिया — जला
जोधा — सिपाही, योद्धा
जूसुना — जिसने सुना
झाला — पकड़ा
पाज़ेब — झांझुर
झपटिया — थप्पड़ झापड़
झड़ — झड़ी
झंकारा — चकाचौंध करने वाला
झलझलाहट — चमक दमक
चट — चाट
चिकारा — हिरन की एक किस्म-सितार के आखिरी तार को भी कहते हैं
छब — अन्दाज़
छन्द — फ़रेब फंदा
चोंधेर — चारों तरफ
चेरा — पगड़ी फेंटा टपका
दाड़म — अनार
दामी — दाम में आने वाला
दतन — दान्त
दराड़ — शगाफ़
दर्पन — आईना
दरस — सबक़, जल्वाह
दिसा — नज़र आया दिखा
दिखे — देखिये
धर्म का काम — नेक काम
धड़ — टुकड़े
देवल — मंदीर मंदिर
राबत — सिपाही
रखेसर — रखकर
सीने का झाल — दिल का ज़ख्म सुराख़
सिति — से
सटे — भूले
सटना — मारना भूलना डरना

**दक्खिनी के कुछ प्राचीन और उनके अर्वाचीन शब्द रूप**

**जदीद (आधुनिक) — क़दीम (प्राचीन)**

यंहा, वंहा कंहा — यां, वां, कां
कोई — कुई
नंही — नयीं
कंहू — कौं या कनों
पढ़ — पड़
ऊपर — उपर
मुंह — मू
कभी — कभ, कभी कभू
देखे — दिखे
ऐ — ईये
बहुत — बोत, बहूत
कंही — कंयी
चोह — वुव
तूने या तू — तीं
से — सी सिती।

# *वली दक्खिनी पर कविताएँ*

## वली

मख़्दूम मोहिउद्दीन

जहानेरंगो-बू-से खेलने वाला न था कोई
शबे हिजरां की सख़्ती झेलने वाला न था कोई
ज़ुबाने नग़मा बे तासीर थी मस्ती की प्यासी थी
परीशां गीत थे गीतों के चेहरे पर उदासी थी
तराने हुस्न-ओ-दिल के गाने वाला ही न था कोई
हसीन फ़ितरत का जी बहलाने वाला ही न था कोई
इक अपनी तर्जुमानी चाहते थे राज़ फ़ितरत के
किसी दाऊद[1] के मोहताज थे सब साज़ फ़ितरत के
अभी ना आशना-ए-लज़्ज़ते गुफ़्तार[2] थी दुनिया
असीरे ख़ामोशी थी बार थी अज़ार थी दुनिया
यकायक दहरे तीराबख़्त[3] की क़िस्मत बदलती है
हवा भी ज़ेरे लब हँसती हुई इतराती चलती है
पिघलकर बह चले मोसीक़ियों के मुन्जमिद[4] धारे
उठे अंगड़ाइयाँ लेते हुए बिस्तर से फ़व्वारे
वह पैग़ामे सहर आ ही गया ज़ंजीरेशब टूटी
वह उभरा मेहेर, लो वह ज़िन्दिगानी की किरन फूटी
हिजाबे तीरगी[5] कुदरत ने जब चुटकी से सरकाया
तो गहबारे में इक हँसता हुआ चेहरा नज़र आया

फ़िज़ाएँ एहतेरामन सर पे आँचल डाल लेती हैं
सहर की बेटियाँ रंगीनियों की नाव खेती हैं
सदा दी आसमानों ने, सितारों ने 'वली' आया
मुबारक बादियाँ गाईं बहारों ने वली आया
वली वह हमदमे फ़ितरत वह पैकें नूरे वज्दानी[6]
वह जिबरइले सुख़न वह अव्वलीने तलमीज़े रहमानी[7]
यक़ीं बख़्शा जुबां को जिसने पहले उसके जीने का
वह पहला "नाखुदा" हिन्दुस्तानी के सफ़ीने का
दिये रौशन किये मन्दिर में काबे के चिराग़ों से
हज़ारों जन्नतें आबाद कर दीं दिल के दाग़ों से
वह मीरासे जहाँ वह ख़ुल्द[8] का पैग़ाम आता है
दकन की सरज़मीं पर ज़िन्दगी का जाम आता है

लिप्यंतरण-शकील सिद्दीकी

---

1. एक पैग़म्बर जिनकी आवाज़ में चमत्कारिक मधुरता थी 2 संवाद का आस्वाद 3.दुर्भाग्यशाली स्थान 4.ठहरे हुए 5.अंधकार का आवरण 6.आत्मालीनता का प्रकाश 7 खुदा का शार्गिद 8 जन्नत।

# मर्सिए में महफ़ूज़

चंद्रकांत पाटील

यह कविता हमारे नगर औरंगाबाद के महान सूफी कवि 'वली औरंगाबादी' (जो वली दखनी नाम से भी उत्तर
भारत में जाने जाते हैं) से सम्बद्ध है। वली और बाद में सिराज़ दोनों ने सूफी कविता को समृद्ध बनाया था,
दोनों सत्रहवी शती के अन्त में तथा अठारवी शती के पूर्व दशकों में सशक्त और कलोक्विअल भाषा में
कविताएँ लिखते थे। ईसवी सन् 1700 में वली यहाँ से दिल्ली गये थे और निराश होकर लौट आए थे।
वली की कविताओं से बाद में मीर काफी अभिभूत हो उठे थे और उन्होंने इस भाषा को अपनाते हुए पहली
बार "उर्दू" शब्द का प्रयोग किया था। वली अपनी भाषा को "दखनी हिन्दी" कहते थे।

क्या यही है तुम्हारा वह शहर
सैयद मुहम्मद वली
जिसकी शिगुफ्ता आबो हवा ने
गुलिस्तानों और परिन्दों ने
नहरों-तालाबों-पहाड़ों-जंगलों ने
जगाया था तुम्हारे भीतर
सुकवि का अहसास?

क्या इसी शहर में जन्म लिया था तुम ने
और मृत्यु के उपरान्त
इसी शहर की मिट्टी में
विलीन हुई थी तुम्हारी देह?

सैयद मुहम्मद वली

जिस उम्र में एक सनकी बादशाह की बदौलत
दिल्ली छोड़ कर आये थे इस मुल्क़ में
पहली बार अपने पिता के साथ
बन्देनवाज़ बाबा गेसूदराज़,
लगभग उसी उम्र में
मैं भी आया था तुम्हारे इस शहर में,
आधी सदी बीतने में ही है
मैंने अपना लिया है तुम्हारे इस शहर को
और भर लिया है प्राणों में।

पता नहीं
किस शहर में बीतेगा मेरा आख़िरी दिन
आख़िरी शाम
चिरन्तन निद्रा की आख़िरी रात,
पर रहेगा याद तुम्हारा यह शहर
मृत्यु के बाद भी।

सैयद मुहम्मद वली
जब से मैंने होश सम्हाला है
मैं ने पी लिया है
तुम्हारे इस शहर का शहद और ज़हर,
इस शहर के हर मुहल्ले से
गली-कूचे से, हर मैदान से
गुज़रा हुआ हूँ मैं
निर्भय, चिन्ताहीन;
हर दर-ओ-दीवार को, हर पत्थर को
तिलिस्मी नहरों को, बाग़-ए-आम को
जानता था मैं साँसों की तरह;
जानता था
इस शहर की सँकरी गलियों से

मुँह चुरानेवाली रोशनी सूरज को;
पहचानता था
कि किस मुहल्ले में अँधेरे की गहराई है
कितनी और कहाँ तक।

मायूसी में देर रात भटकता था मैं
इस शहर की धमनियों के भीतर से;
हर बार मृत्यु की मँड़राती हुई छाया में
हर हारी हुई लड़ाई में
मुझे पनाह दी है इस शहर ने;
पराजय की मिट्टी के भीतर धँस जाने के बाद भी
लौट आया हूँ मैं हमेशा सतह पर।
अब इतने बरसों के बाद
तुम्हारा यह शहर
मेरे जिस्म-ओ-जान से अलगाया नहीं जा सकता।

अपनी युवावस्था में
अजीब पागलपन सवार होता था मुझ पर
और मद्धिम रात में अपने दोस्तों के साथ
मैं आ जाता उस कब्रिस्तान में
जहाँ सिराज़ के मज़ार के सामने
बैठे रहते हम नीम के तले
चाँदनी से खिलवाड़ करते पत्तों को
थर्राते हुए देख कर
डूब जाते थे हम अपने ही भीतर,
नीरवता में आत्मिक ऊर्जा का अहसास करते थे।

कब्रिस्तान से गुज़रते हुए
कई बार सोचा करता था
कि किस तरह अपनी रोज़मर्रा ज़िन्दगी को

तब्दील किया होगा तुमने
ग़ज़लों और मसनवियों में?
कैसे हुआ होगा इस शहर की ज़मीन से
तुम्हारी तरोताज़ा भाषा का जन्म
सार्वजनिक पतन में?

सैयद मुहम्मद वली
छः सदियों पहले
बन्देनवाज़ के रिसालों से
उग आया था एक बरगद,
जिस की आख़िरी शाख थे तुम, और
तुम्हारे साये में सुरक्षित थे सिराज़

किस मायाजाल में फँस कर
दिल्ली गये थे तुम
अपने इस अज़ीज़ शहर को छोड़कर?
क्या वह करिश्मा था या मजबूरियाँ
जिनके कारण इतनी दूरियाँ पार कर
दिल्ली का फ़िज़ाओं को गले लगाने की
नाक़ामयाब कोशिश कर बैठे थे तुम?

सैयद मुहम्मद वली
कुबूल कि तुमने कोई गुनाह नहीं किया था
दिल्ली जा कर,
इतिहास को नहीं दे सके कोई नया मोड़
कुबूल कि तुम महज़ एक शायर थे
मुतसव्वुफ़ाना विरासत के,
कुबूल कि तुम्हारी दिल्ली का सफर एक संयोग था।

लेकिन वली

तुम अगर दिल्ली न जाते
तो तुम्हारी शायरी से
रोशन न होते दिल्ली के मुशायरे,
न तहलका मच जाता;
तुम्हारी भाषा से अभिभूत न होते महाकवि मीर
और न ही अपने दर्द को कालजयी कर देते
जुबान-ए-उर्दू में।

तुम अगर दिल्ली न जाते
तो बन्देनवाज़ के रिसालों से उग आईं
बरगद की जड़ें
आज तक रह जाती सुदूर धँसी हुईं
'हिन्दुई' ज़मीन में,
'दखनी हिन्दी' का कभी न होता 'उर्दू' में कायाकल्प।

सैयद मुहम्मद वली
तुम्हारे इस शहर में अपनी तमाम उम्र बिता कर
देख लिया है मैंने
कि किस तरह भाषा की हवाएँ
भड़का देती हैं मज़हबी शोलों को;
किस तरह आते हैं पराये मुल्क़ से ओछे लोग
और जुबान से आतंकित हो कर
विभाजित कर देते हैं समूचा शहर
मज़हबी खेमों में।

सैयद मुहम्मद वली
अब इस शहर में पल रहा है दिन-ब-दिन
साम्प्रदायिकता का भयंकर शैतान,
अब इसकी नहरों में घुला दिया गया है
नस्ली नफ़रतों का घातक ज़हर,

इसकी आबोहवा में बढ़ रहे हैं खूँख्वार पौधे,
इसकी गली-कूचों से निकल आते हैं
अब दिन-दहाड़े आदमखोर दरिन्दे
गाहे-बगाहे उतर आता है आतंकित अँधेरा
तुम्हारे इस शहर में।

फिर भी यह शहर
बढ़ रहा है लगातार नाखून की तरह,
जिस तरह सैलाब के आतंक से
दूर-दूर भागते हैं मध्यवर्ती धारा से
नदी के दोनों छोर,
ठीक उसी तरह तुम्हारे इस शहर की
सीमा रेखाएँ भाग रही हैं शहर से दूर।
देखो, मुहम्मद वलीउल्ला,
किस तरह अमन् में डूबा हुआ तुम्हारा यह शहर
बदल रहा है महानगर में,
किस तरह भीड़ ने अपना मुखौटा
चिपका दिया है शहर के जिस्म पर,
किस तरह यहाँ के लोग
पराये हो रहे हैं अपनी ही ज़मीन पर।

सैयद मुहम्मद वली
तुम यदि होते जीवित इस वर्तमान में,
शायद एकाध अँधियारी गली में क़ैद हो जाते,
सभ्यता पर थूक कर बैठे रहते
एकाध होटल में कैरम के सामने,
शायद गली के किसी चबूतरे पर खेलते जुवा,
या पकड़े जाते
फ़िल्मी टिकटों का ब्लैक करते हुए
या शहर के निर्जन रास्ते पर

राहज़नी करते हुए,
शायद बचपन में ही अपना लेते गराज की दुनिया
मुँह-जुबानी याद करते हुए
नट-पानों-स्क्रूड्राइव्हरों की रहस्यमयी भाषा;
किसी की इनायत से निकाल लेते लाइसन्
ऑटो, टॅक्सी या सीधे ट्रक का;
जब भी आँधी पर सवार हो कर
ज़िहाद का नारा बुलन्द हो जाता
तुम्हारी भी आँखों में ख़ून उतर आता
ज़ंग-लगे चाकू, बरछी, या छुरे को
धार लगाते हुए:

सैयद मुहम्मद वली
अब यह शहर तुम्हारा नही हो सकता
इस शहर के लोग भूल गए हैं तुम्हारा नाम
और भूलना चाहते हैं इस शहर का नाम भी
वे चाहते हैं कि
उनकी अस्मिता को आहत करनेवाले
इस शहर का नाम भी बदल दिया जाय।

सैयद मुहम्मद वली
मेरा भी नहीं रहा है अब यह शहर,
छः सदियों के इतिहास का दर्द लेकर
मैं ढह रहा हूँ भीतर-ही-भीतर,
ढूँढ रहा हूँ
इस महानगर में खोया हुआ मेरा शहर।

सैयद मुहम्मद वली
जिन शब्दों के साथ
खिलवाड़ करता रहा मैं तमाम उम्र,

वे नहीं जानते कि मर्सिया क्या होता है
लेकिन यह सच है
कि मर्सिये में ही महफ़ूज़ रह सकता है
तुम्हारे इस अज़ीज़ शहर का नाम!

(पहल-46 से)

## वली दकनी

राजेश जोशी

बात यूँ तो इक्कीसवी सदी की पहली दहाई के शुरुआती दिनों की है
बर्बरता और पागलपन का एक नया अध्याय शुरू हो रहा था
कई रियासतों और कई किस्म की सियासतों वाले एक मुल्क में
गुजरात नाम का एक सूबा था
जहाँ अपने हिन्दू होने के गर्व और मूर्खता में डूबे कुछ क्रूर लोगों ने
जो सूबे की सरकार और नरेन्द्र मोदी नामक उसके मुख्यमन्त्री के
पूरे संरक्षण में हज़ारों लोगों की हत्याएँ कर चुके थे
और बलात्कार की संख्याएँ तो जिनकी याददाश्त की सीमा पार कर चुकी थीं

- एक शायर जिसका नाम वली दकनी था का मजार तोड़ डाला।

वह हिन्दी और उर्दू की साझी विरासत का कवि था
जो लगभग चार सदी पहले हुआ था और प्यार से जिसे
बाबा आदम भी कहा जाता था।

कई बुरे कारनामों के भी कभी-कभी कुछ दिलचस्प परिणाम सामने आते हैं
सो इसका भी एक दिलचस्प परिणाम सामने आया
और वह कवि जो बरसों से चुपचाप अपनी मजार में सो रहा था
बाहर आ गया और हवाओं में फैल गया।
इक्कीसवीं सदी के उन शुरुआती दिनों में एक दूसरे कवि ने

जो मजार को तोड़ने वालों के सख़्त खिलाफ़ था
तीसरे कवि से कहा कि
मैं दंगाइयों का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ।
फिर तीसरे कवि ने चौथे कवि से भी यही बात कही
फिर चौथे ने पाँचवे से भी...
कि मैं दंगाइयों का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ
कि उन्होंने वली की मजार की मिट्टी को
सारे मुल्क की मिट्टी, हवा और पानी का
हिस्सा बना दिया।

हिन्दू होने के गर्व और मूर्खता में डूबे लोगों को
इस कारनामें से लेकिन सुकून नहीं मिला
और उन्होंने रात दिन मेहनत मशक्कत करके
एक अज्ञात कुलशील कवि को खोज निकाला
और दावा किया कि वह
वली दकनी से अगले वक़्त का कवि है
कि छद्म धर्मनिरपेक्ष लोगों के चलते
जो हमेशा अलक्ष्य किया जाता रहा
कि वह वली से भी ज़्यादा पुराना और बड़ा कवि है।
फिर उन लोगों ने जिनका जिक्र ऊपर कई बार किया जा चुका है
कोर्स की किताबों से वो सारे सबक जो वली दकनी के बारे में लिखे गये थे
चुन चुन कर निकाल दिये।
यह क़िस्सा क्योंकि इक्कीसवीं सदी की भी पहली दहाई के
शुरुआती दिनों की है
इसलिए बहुत मुमकिन है कि कुछ बातें सिलसिलेवार न हों
आदमी की याददाश्त की भी एक सीमा है।

फिर तकलीफ़देह बातों को याद रखना और दोहराना
अपने को ही बार-बार तकलीफ देना है
इसलिए यहाँ जानबूझकर भी कुछ नामालूम सी बातों को छोड़ रहा हूँ
लेकिन वह बात जो बहुत अहम है और सौ टके सच है

उसका बयान कर देना मुनासिब होगा
कि वली की मजार को जिन लोगों ने नेस्तनाबूत किया
या यह कहना ज़्यादा सही होगा कि करवाया
वे हमारी आपकी नस्ल के कोई साधारण लोग नहीं थे
कमाल के लोग थे वे
उनके शरीर ही शरीर थे
और उनमें आत्माएँ नहीं थीं
बिना आत्मा के भी वे शरीर का इस्तेमाल करना जानते थे
उस दौर के क़िस्सों में कहीं-कहीं इसका उल्लेख मिलता है
और इसका भी कि उनकी आत्माएँ उन लागों के पास गिरवी रखी थीं,
जो विचारों में बर्बरों को सदियों पीछे छोड़ आये थे
पर जो मसखरों की तरह दिखते थे
और अगर उनका बस चलता तो प्लास्टिक सर्जरी से
वे अपनी शक्लें हिटलर और मुसोलिनी की तरह बनवा लेते।

मुझे माफ करें मैं बार-बार बहक जाता हूँ
असल बात कहीं छूट जाती है
मैं कहीं और निकल जाता हूँ
मैं अच्छा किस्सागो नहीं हूँ
मुझे ठीक से क़िस्सा कहना नहीं आता
इस घटना के बाद मैं कई सदियों से लगातार जागता रहा हूँ
मैं जितना दूर-दूर भागता रहा हूँ इस घटना से
यह उतनी ही रह-रह कर याद आती है
मैं फिर किस्से का सिरा पकड़ने की कोशिश करता हूँ

कोर्स की किताबों से वली दकनी वाला सबक
निकाल दिये जाने के बाद भी उन्हें सुकून नहीं मिला
उन्हें सुकून नहीं मिला ....
उन्होंने अपने चिन्तकों को पुकारा, अंपने शिक्षाशास्त्रियों को बुलाया
अपने पुरातत्वविदों और इतिहासकारों को तलब किया
और कहा कि कुछ करो, कुछ भी करो
पर कुछ ऐसा करो

कि इस वली नाम के शायर को
इतिहास से बाहर करो।
स्मृति से बाहर करो।
यक़ीन करें मुझे आपकी मसरूफियतों का पूरा ख़याल है
उस तवील वाकिये को मैं यहाँ नहीं दोहराऊँगा
मुख़्तसर यह कि
एक दिन...।

ओह! मेरा मतलब यह कि हाँ...
इक्कीसवीं सदी की पहली दहाई के शुरुआती दिनों में एक दिन
हाँ, एक दिन...
उन्होंने वली दकनी का हर निशान पूरी तरह मिटा दिया
मुहावरों में कहना चाहें तो कह लें
नामों निशान मिटा दिया!
हाँ, नामोंनिशान मिटा दिया!

उन्हीं दिनों की बात है कि एक दिन

जब उन्हें पूरा इत्मीनान हो गया
कि दफ़्न हो चुकी है वली की हर याद
वली की हर बात...
उन्हीं दिनों एक दिन ...
वे सुकून से बैठे थे अपने अपने बैठकख़ानों में
तभी उनकी छोटी-छोटी बेटियाँ उनके पास से गुज़री
गुनगुनाती हुईं
...............
..............

वली तू कहे अगर यक बचन
रकीबां के दिल में कटारी लगे!

(16.6.02)

# जो पीवे नीर नैना का

देवीप्रसाद मिश्र

वो नींद थी
जो सूखे-से पेड़ से टिककर आ जाती है

वो नींद थी जो रूप
निहारते हुए आती है तारे को
टकटकी लगाकर देखते हुए
आग तापते हुए पानी में
पत्थर पर नाव में उजाले में
रास्ते में रास्ते के बग़ल कहीं
पहुँचने के पहले

वो नींद थी जो
दुख में
दुख को कम करने आ जाती है

वो नींद थी जो
खोजने के भटकाव के बाद आती है जो परिव्राजकों को
आती है सूफ़ियों को अवधूतों को फक्कड़ों को

जो ज़बान के नये तरीक़े से इस्तमाल की तोहमत से जन्मी
पस्ती से आती है जो बहुत मोहब्बत की थकान के बाद आती है जो

वो गहरी नदी जैसी गहरी नींद थी जिसमें
सपने रहते थे गहरी नदी में रहती मछलियों जैसे

वो नींद थी
जो टूटी

वो नींद टूटी तो मैं गुल के गुलाब में बदलने का
ख़ाब देख रहा था चौखट पर आवाज़ें सुनकर मैं जागा
और मैंने कहा : कहिए
मैं वली दकनी
मैं वली औरंगाबादी
मैं वली गुजराती

ये कहने के पीछे वो शरारत थी कि
कहीं भी मिल लो मेरे पास पते ही पते हैं

मैं अपनी नींद से यह सोचकर उठा था
कि कोई कहेगा बाबा रेख़्ते में वो सुनाओ जो
पीवे नीर नैना का उसे क्या काम पानी सूँ वग़ैरह

लेकिन वे आये तो उनके अंदर से आवाज़ें
इस तरह नहीं निकलीं कि जैसे सुराही से पानी निकलता है

वे आये तो उन्होंने कहा ये सब
नहीं चलेगा जिसका मतलब था गली
के नुक्कड़ पर सत्तर साल से रहते आना
एक औरत का घड़े जैसा गर्भ एक बच्चे का
पचास पैसे लेकर एक दूकान तक दौड़ लगाना अस्सी

पतंगों वाले आसमान के आठ सौ रंग एक आदमी
का रात ग्यारह बजे लौटना बारह बजे खाना और एक बजे
सोने के पहले पाँच पेज पढ़ना खड़ी बोली और उर्दू
का एक ही मातृत्व तीसरे महले में ख़याल के
शहद का छत्ता सुबह चार बजे बाल्टियों में पानी के गिरने की
मौसीक़ी नुक़्ता एक बूढ़ी स्त्री के हिलते दाँतों में टहलती
डगडग हँसी

वे आये तो उन्होंने जो कुछ कहा गर्व से
और सुना कुछ नहीं
उनके चेहरे पर किसी सूक्ति से
शर्मिंदा होने की शिकन नहीं थी

वे आये तो यार ढूँढ़ता आया तेरी गली गली
वली वली वली वली वली वली की
पुकारें लगाते नहीं आये

उन्होंने मेरा मज़ार गिरा दिया
ढोलकें फोड़ दीं क़व्वालियों की
सतरें काट दीं दीवान फाड़ दिया और कहा
निकल जाओ इस धरती से और इस
आसमान के नीचे से

मैं कहाँ जाऊँ भाई इतना रहने के बाद
इतनी चीज़ों के बारे में इतना कहने के बाद

और जाऊँ भी क्यों लेकिन रह भी कैसे पाऊँ
कि जला दिया जाऊँ या ढहा दिया जाऊँ
क्या कर जाऊँ कहाँ जाऊँ लेकिन जाऊँ भी क्यूँ

शायद कि आपको याद हो कि एक दफ़ा मैं

दक्कन से दिल्ली अपने दीवान के साथ गया था आज
मैं फिर दिल्ली की तरफ़ बढ़ रहा हूँ आहिस्ता
आहिस्ता बेआवाज़ पुकारता हुआ कबीर की तर्ज़ पर कि
कौन आता है मेरे साथ

मैं चीनी पीर
मैं वली दकनी
मैं वली औरंगाबादी
मैं वली गुजराती

तीन सौ साल बाद जलावतन
बेवतन

मैं वली औरंगाबादी
मैं वली गुजराती
मैं वली दकनी कि मैं हूँ अजनबी बेरेख़्ता
मैं बढ़ूँगा जिस तरफ़ भी उस तरफ़ की रात है

स्याह हूँ मैं नसें फटतीं ये रहा मैं वो गिरा
सूखते इस पेड़ का जो काँपता-सा पात है

हैं खड़ी बोली में लिक्खीं कुछ खड़ी बातां ज़रूर
दूर होती जा रही दिल्ली कि अपनी मात है

किस तरह आऊँ कि मेरे पैर दुखते हैं वली
ख़ून के छीटे नमक है और बासी भात है

मैं कहूँ किससे कहूँ कि क्या यही गुजरात है
साधु से ही पूछते हो क्या तुम्हारी जात है

(इस कविता के उद्‌भव और निर्माण में श्री मंगलेश डबराल मददगार रहे। उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।)

(अलोचना-अक्तूबर-दिसम्बर 2001-जनवरी-मार्च 2002 से)

’07